UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186038

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—556—13-7-71—4,000.

**OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY**

Call No. H 81 Accession No. H 3562

Author B 11C

Title

This book should be returned on or before the date last marked below.

चार खेमे चौंसठ खूँटे
सन् १९६०'-६२ में लिखित

## बच्चन की अन्य रचनाएँ

१. नए-पुराने झरोखे (निबंध संग्रह) '६२
२. त्रिभंगिमा '६१
३. कवियों में सौम्य संत (पंत काव्य समीक्षा) '६०
४. ओथेलो (अनुवाद) '५६
५. बुद्ध और नाचघर '५८
६. जन गीता (अनुवाद) '५८
७. आरती और अंगारे '५८
८. मैकबेथ (अनुवाद) '५७
९. धार के इधर-उधर '५७
१०. प्रणय-पत्रिका '५५
११. मिलन यामिनी '५०
१२. खादी के फूल '४८
१३. सूत की माला '४८
१४. बंगाल का काल '४६
१५. हलाहल '४६
१६. सतरंगिनी '४५
१७. आकुल अंतर '४३
१८. एकान्त संगीत '३९
१९. निशा निमंत्रण '३८
२०. मधुकलश '३७
२१. मधुबाला '३६
२२. मधुशाला '३५
२३. खैयाम की मधुशाला (अनुवाद) '३५
२४. उमर खैयाम की रुबाइयाँ (अनुवाद) '५९
२५. तेरा हार ('प्रारंभिक रचनाएँ' में सम्मिलित) '३२
२६. प्रारंभिक रचनाएँ–पहला भाग
२७. प्रारंभिक रचनाएँ–दूसरा भाग
} कविताएँ '४३
२८. प्रारंभिक रचनाएँ–तीसरा भाग-कहानियाँ '४६
२९. नेहरू : राजनीतिक जीवन चरित (अनुवाद) '६१
३०. बच्चन के साथ क्षण भर (संचयन) '३४
३१. सोपान (संकलन) '५३
३२. आधुनिक कवि (७) : बच्चन (संकलन) '६१
३३. आज के लोकप्रिय हिंदी कवि : सुमित्रानंदन पंत (संपादित) '६०
३४. आज के लोकप्रिय हिंदी कवि : बच्चन (चंद्रगुप्त विद्यालंकार द्वारा संपादित) '६०

'मधुशाला' का अंग्रेज़ी ('५०) और 'बंगाल का काल' का बंगला ('४८) अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

रचनाओं के साथ प्रथम प्रकाशन तिथि का संकेत है।

# चार खेमे चौंसठ खूँटे

VIDYA PRAKASHAN
V.P.
HYDERABAD.

राजपाल एण्ड सन्ज़ दिल्ली

मूल्य : चार रुपये
पहला संस्करण : नवम्बर, १९६२

*समर्पण*

श्रद्धेय श्री मैथिलीशरण गुप्त को

जिन्होंने मध्ययुगीन संस्कृति के उदात्त से आधुनिक हिंदी-काव्य का शिलान्यास किया

आदरास्पद श्री माखनलाल चतुर्वेदी को

जिन्होंने उसे आवेग की गहराई और स्फूर्ति की उठान दी,

सम्मान्य श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही',

श्री उदयशंकर भट्ट

और

श्री सियारामशरण गुप्त को

जिन्होंने इस काव्य-प्रासाद की दीवारें सीधी और ऊँची रखीं ।

## अपने पाठकों से

मुझसे नई रचना पाना आपके लिए कोई नई बात नहीं रह गई। १९३२ से १९६२, तीस वर्ष; इतने वर्षों में मेरी इतनी पुस्तकें तो आपके सामने आ चुकी होंगी। सहसा नाम गिनाने को कहे तो यह दावा तो नहीं करता कि दस के पहाड़े की तरह खटाखट ऊपर से नीचे तक सुना जाऊँगा। बहुत-से लड़के-लड़की वाले मेरी कठिनाई का अनुभव करेंगे और मेरे साथ सहानुभूति दिखलाएँगे। हर साल एक। यह कोई ऐसा रिकार्ड नहीं जिस-पर मैं अपनी छाती फुलाऊँ या अपना माथा ऊँचा उठाऊँ। औसतन डेढ, दो, तीन या चार वाले भी मिल ही जाएँगे—मैं सदा वर्तमान देश-काल में ही बात नहीं करता। संख्या का मोह सबको होता है, त्यागियों, विरागियों को भी, नहीं तो श्री १०८ अमुकानन्द जैसा नाम आप न सुनते। पर संख्या का रोब सब पर नहीं चलता। गुण भी परखा जाता है, गो है यह संसार का सबसे अनिश्चित, सूक्ष्म और लचीला तत्त्व—निर्गुणत्व तक खिंचता है। हाथी में चींटी बराबर गुण दिखाया जा सकता है, चींटी में हाथी बरा-बर। हँसते है? शायद नई समालोचना का सरकस-घर आपने नहीं देखा? यह कोई बुरी बात नहीं; इससे साम्यवादी नहीं तो समवादी वातावरण बनता है—हाथी सहमा हुआ चलता है कि कहीं गुण की परख होने पर उसे चींटी ही न समझा जाए और चींटी अकड़ी हुई चलती है कि गुण से वह हाथी से बड़ी समझी जा सकती है। संख्या की बढ़-घट को किसी हद तक क़ाबू में रक्खा जा सकता है, पर गुण? कौन मियाँ मिट्ठू न बनेगा?

उसकी तराजू तो दूसरों के हाथों में ही भली, चाहे वे डंडी मारें, चाहे बाट भी अदलते-बदलते रहें। और अगर आप मेरा विश्वास कर सकें तो यह लगभग तीस की संख्या मेरे किसी आग्रह से नहीं पहुँची और न आगे कोई दर क़ायम करने का इरादा है। मन का चोर न छिपाऊँगा, संख्या का मोह न सही, संख्या से कुछ सन्तोष तो मन में है; सक्रिय रहा हूँ। और यह संख्या छोटी समझी जाए अथवा बड़ी, और अनुपात में गुण को समान, कम या अधिक माना जाए, सौ बात की एक बात, कुछ मजबूरी ही रही है। भुक्तभोगी समझेंगे।

आप मुझसे और के लिए तरसते रहे हैं, ऐसा मानना अपनी अहंमन्यता का डंका पीटना होगा; हवा में पाँव रखने की आदत नहीं रही—पंख मारने की नहीं कहता। आप तरसते भी रहे हों तो मैं कैसे जानूंगा। आप तरसते ही हों तो जब तक मेरे पास बरसने को न होगा, मैं आपकी सहायता कैसे कर सकूंगा ? मेरा बल तो बिजली, बादल, तूफ़ान है। वह उठेगा तो मैं बरसूँगा, आप न तरस रहे हों तो भी, हालाँकि तरसने-बरसने में प्रकृति ने एक बड़ा रहस्यपूर्ण तारतम्य बना रक्खा है, जो कविता की धरती और आसमान पर भी लागू होता है। विज्ञान के युग में, सुनते हैं, नक़ली वर्षा भी संभव हो गई है। कभी ऐसी वर्षा में नहाने-भीगने का अवसर तो नहीं मिला। अलबत्ता कविता की दुनिया के नक़ली बादलों की छिट-पुट बूँदें यदा-कदा चश्मों पर पड़ी हैं। कुछ दिन हुए एक भटका मेघ मिल गया। शिकायतों से भरा था—बहुत बरसा, न धरती से महक उठी, न छोकरे चौपालों की ओर बढ़े, न छोकरियाँ झूलों के ऊपर चढ़ीं, न आल्हा गरजा, न कजली लहराई—

**"बरिस अठारह छत्री जीवै आगे जीवै को धिक्कार।"**

**"अरे रामा कच्ची कली कचनार छुअत डर लागै रे हरी।"**

और खेत बने रहे खल्वाट के खल्वाट। समालोचनाई रोशनाई सावन की झड़ की स्थानापन्न नहीं है। उधर सुनते हैं कि रामचन्द्र के राज में बादल माँगने पर जल देते थे। आपने अपने को रामचन्द्र के राज में सम-

झने की भूल नहीं की, यह अच्छा ही किया—हालाँकि गांधी जी अपने आधे जीवन राम-राज्य का सपना ही देखते गए। आपके माँगते ही मेरी प्रेरणा का स्रोत सूख जाता। वैसे माँग पर महाकाव्य से लेकर सुगम संगीत तक प्रस्तुत करने वाले कम नहीं हैं। पर वह 'सरग' से गिरता-झरता है—'आकाश' कहने दीजिए, क्योंकि वह आकाशवाणी में होता है—तो खजूर में अटकता है, यानी, पहेली न बुझाऊँगा, पाठ्य-पुस्तकों में, कुंजियों में, पाठशालों के तालों में बन्द हो जाता है, जीवन की धरती पर नहीं उतरता-उतराता। करिश्मे दोनों है—बरस देना, बरसा लेना। मेरे-आपके बस के बाहर हों, यह और बात है। करिश्मों के जमाने में स्वाभाविक बने रहना कोई छोटी उपलब्धि नही है—बादल बरसे तो धरती आँचल फैलाकर समेटे और धरती आँचल तभी फैलाए, जब बादल की झोली खुली पड़ती हो।

आप मुझसे ऊब नहीं उठे, ऐसा मानने के लिए मेरे पास कुछ टक-साली कारण हैं, पर मेरे लेखन-कार्य की न प्रेरणा, न प्रलोभन—कारन ते कारज कठिन। आप भी प्रत्याशा करते रहते है, मैं भी आपको निराश नहीं करता। मान न मान मैं तेरा मेहमान मनवाने वालों में मैं नहीं। अन-चाहे मेहमानों से कैसा व्यवहार किया जाना चाहिए, यह मेरे से अधिक आपके खित्ते की बात है। आपका रुख बदला कि मुझे भाँपते देर न लगेगी। अपनी इज़्ज़त अपने हाथ है। पेट के धंधे भी दो-एक जानता हूँ, करता भी हूँ। मुझे इसकी ज़रूरत नहीं कि आपके दरवाज़े पर क़लम की सूली पर बैठकर आत्महत्या करूँ या आत्महत्या करने की धमकी दूँ। धमकी से भी बहुत-से काम निकल जाते हैं, यह सब सत्याग्रही जानते हैं, साहित्यिक सत्याग्रही भी। उनसे आपका पाला पड़ा होगा। जानता हूँ, आप उनसे कैसे निपटते हैं। बड़ा-बड़ा नाम देकर, मोटी-मोटी मालाएँ पहनाकर, झुक-झुककर दंड-वत करके मुझे टरकाने का कष्ट आपको न उठाना पड़ेगा। मैं आऊँगा तो पलक पाँवड़ों पर; बैठूँगा तो दिल में, दिमाग़ में; कल्पना भी है, यथार्थ भी। मानी हूँ, अभिमानी नहीं।

एक और तरह के आग्रही से आपका साबक़ा पड़ा होगा। उसे सत्या-

ग्रही कहूँ, कि असत्याग्रही कि दुराग्रही (दुरा का अर्थ छिपा), जल्दी में सूझ नहीं पड़ रहा। वह सीधे दरवाजे पर नहीं आता। साक्षरता और शिक्षा-प्रचार के इस जमाने में हरेक को अपने घर का एक दरवाजा विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय की तरफ़ रखना पड़ता है। वह वहीं से आपके या आपके लड़के-लड़की के वस्ते में बैठकर आपके घर आ जाता है। वह अपने साथ अपने मददगार, पैरोकार, तरफ़दार भी लाता है। गनीमत यह है कि परीक्षा-समाप्ति के दिन वह अपने लै-लामर के साथ ऐसा पर झाड़कर निकलता है कि फिर उसकी परछाईं देखने को नहीं मिलती। बस्ते में अपने को सिकोड़कर बैठालना आसान नहीं—लघिमा नाम की सिद्धि है, शायद लघु मानव सिद्धान्त का आदि बीज। इस तरह की सिद्धि के लिए मेरे मन में सम्मान है। अपने से साध्य नहीं। महिमा से अपनी आस्था नहीं हटती। वश में भले ही न हो।

गोलमोल बातें बहुत हो चुकीं। आइए दो-दो बातें सीधी-सीधी कर लूँ। मैंने हिन्दी साहित्य का भंडार भरने के लिए नहीं लिखा और न मैंने कभी आपसे प्रत्याशा की कि हिंदी भाषी होने के नाते आपका परम कर्तव्य है कि मैं जो कुछ लिखूँ, उससे आप अपने घर की आलमारी सजाएँ—चाहे पढ़ें नहीं; और न मैंने इसलिए लिखा है कि हिन्दी पाठ्य-पुस्तकों की परिक्षीणता कम करने में अपना बहुमूल्य सहयोग दूँ और उसे चरम साहित्य-सेवा समझूँ। एक मनोरंजक बात याद हो आई। आपने रायबहादुर लाला सीताराम बी० ए० का नाम सुना होगा। मैं इलाहाबाद में उनके ही मुहल्ले मुट्ठीगंज में रहता था; उनके घर से कोई तीन फ़र्लांग पर मेरा घर होगा। युगानुरूप भोले-भाले आदमी थे। मैं अपनी जवानी में कभी-कभी उनके दर्शनों के लिए जाया करता था। वयोवृद्ध हो चुके थे। वृद्धता में अपने जीवन के कार्य को कुछ महत्ता देने की आकांक्षा शायद स्वाभाविक होती है। एक दिन बोले, "हिन्दी में जो कुछ करने को था, मैंने कर दिया, कलकत्ता युनिवर्सिटी के लिए एम० ए० तक का हिंदी कोर्स बना दिया, अब तुम लोग उसी आधार पर लिखते चले जाओ।" इस पर टिप्पणी न

करूँगा। एक उर्दू शायर का कलाम याद आ गया—"अगले वक़्तों के हैं ये लोग इन्हें कुछ न कहो।" मगर कोर्स आज भी हमारे साहित्य का मानदंड, और मापदंड भी, बना हुआ है। और देशों में साहित्य जब जीवन में स्थान बना चुकता है, तब कहीं जाकर विश्वविद्यालय के लिए उसका दरवाज़ा खुलता है, अपने देश में साहित्य विश्वविद्यालय के द्वार से जीवन में प्रवेश करता है। केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में सन् '५४ तक जो अन्तिम कवि पाठ्यक्रम में था, वह था आरनल्ड, जिसकी मृत्यु १९वी सदी के अन्तिम दशक में हुई थी। उल्टी गगा बहाने का मुहावरा हमी ने न बनाया है? बड़ा आभारी हूँ लाला सीताराम की मानसिक सतानों का। मेरे एतदर्थ न लिखने पर भी वे मुझे किसी परीक्षा में लगवा देते तो मैं उनका क्या कर लेता! सुनता हूँ, अब कोर्स का मानदड प्रांतीयता हो गया है। यानी आप पंजाबी है तो पंजाब की परीक्षाओं में लग जाएँगे, विहारी हैं तो बिहार की परीक्षाओं में। कुछ यह कहावत भी चरितार्थ करते हैं कि खाते हैं नाने के और कहलाते हैं दादे के।

हाँ, चतुराग्रही जी को तो भूला ही जा रहा था। उनकी कृति का संपर्क किसी सजीव प्राणी से नही होता। उनकी रेन्ज है—प्रार्थनापत्र, पहुँच, सिफ़ारिशी चिट्ठी, मंजूरी, आर्डर, आर० आर०, कैटलाग, आलमारी। यानी इतनी सीढ़ियों को चढ़ती हुई उनकी पुस्तक सामुदायिक प्रायोजना के पुस्तकालयों में पहुँच जाती है। अपने देश मे भगवान को जानने-समझने की परम्परा छोड़ दी गई है—दर्शन से काम। नवसाक्षर भी उन पुस्तकों का दर्शन करता है। भविष्य की भी तो सोचनी है। बच्चे के आने के पहले प्रकृति माँ के स्तन में दूध जमा कर देती है। किसी दिन पढ़ेगा, अभी नहीं पढ़ता। चतुराग्रही एक प्रकार से बड़ा दत-नख-शृंग-विहीन जीव है। वह परीक्षा के निकट किसी की राते नही ख़राब करता, आधुनिक विद्यार्थी इसके पूर्व तो पढ़ता नही—किसी के दिमाग़ पर भार नहीं बनता, किसी का सिर नहीं खरोंचता-खाता। खाते में उसके कुछ जमा चढ़ जाती है तो हमें-आपको शिकायत क्यों हो, जब हमारी-आपकी जेब

से नहीं जाता, वैदेशिक सहायता के अन्तर्गत आता है। मेरी कमी को मेरे प्रकाशक भी पूरी कर सकते थे। खाता जहाँ का तहाँ है। मजाक किया। साहित्य से एक और माँग भी करनी होगी कि जो लिखा गया है, वह बिका ही नहीं, पढ़ा भी गया है। घर-घर जाकर कौन देखेगा ? जरूरत नहीं। तालाब में कंकड़ पड़ा है कि पत्थर, लहरियाँ बताएँगी।

तो आप पूछ सकते हैं कि मैं किसलिए लिखता हूँ ? अगर मैं भी आपसे एक सवाल पूछ लूँ तो दोनों के जवाब बहुत नज़दीक आ जाएँगे। आप किसलिए पढ़ते हैं ? अवश्य ही अगर आप हिन्दी-साहित्य-संवर्द्धना-समिति के सदस्य नहीं हैं और न परीक्षार्थी। मैं तो इसलिए लिखता हूँ कि मुझे जगत-गति व्यापती है। और क्या आप भी इसलिए नहीं पढ़ते कि आपको जगत-गति व्यापती है ? मैं आपकी तरफ़ से एक जवाब और सोच सकता था कि आप आनन्द के लिए पढ़ते हैं। जहाँ दुनिया में आनंद के इतने उपकरण सुलभ हैं—बीड़ी से ब्रह्म तक—वहाँ पढ़ने में आनंद की खोज बिना जगत-गति व्यापे मुझे तो संभव नहीं दिखाई देती। अब हम और आप ज़्यादा दूर नहीं हैं। सच पूछिए तो इतने पास हैं कि एक को दूसरे का रोग लग सकता है। क्या आप लेखक बनना नहीं चाहते ? मैं पाठक भी हूँ।

विमूढ़ों की बात छोड़ दीजिए, हालाँकि किसी भी देश के जनसमुदाय में उनका बहुमत होता है—सभ्य और संस्कृत कहलानेवालों में भी। जिन्हें जगत-गति व्यापती है, उनके मन में अपने युग-समाज को समझने की एक जिज्ञासा होती है, न समझ पाने पर एक बेचैनी होती है, समझने में किसी से कुछ सहायता मिलने पर, या किसी को अपने ही समान बेचैन पाने पर कुछ शान्ति मिलती है। यहीं पर सर्जक और सृजन में रुचि लेने वालों के संबंध का मूल है। यानी उनके '६, ३' रहने में, '३६' रहने में नहीं। आप 'जग' में हों तो तुलसीदास मुझे क्षमा करें। मेरी प्रतिरक्षा की ढाल उन्हीं के शस्त्रागार में मिल जाएगी—सीय राम मय···।

युग-समाज की—और समाज में मैं व्यक्ति को भी सम्मिलित समझता हूँ—समस्याओं का रूढ़िगत अथवा परम्परागत हल भी जातियों के पास होता

है। रूढ़िगत उनके धर्म अथवा दर्शन में, परम्परागत उनके प्राचीन साहित्य में। जीवन सदा गतिमान और परिवर्तनशील है, इसे आज सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। महत्ता होते हुए भी रूढ़िगत हलों की सीमा है। परम्परागत हल भी जीवन के नित्य-परिवर्तित रूप को समझने के लिए पर्याप्त सिद्ध नहीं होते। तुलसीदास बहुत बड़े कवि है, पर आज के प्रश्नों का पूरा समाधान वे कर सकेंगे, इसमें सन्देह है। हम उनकी कृति को पढ़ते हैं, उसका रस लेते हैं, तो उसके बहुत-से कारण हो सकते हैं—हम वर्तमान से घबराकर अतीत की ओर भी भागते है, अतीत का कोई न कोई अंश वर्तमान में भी जीवित-जाग्रत रहता है, बहुत-सी समस्याएँ एक ही होकर विभिन्न युगों में रूप मात्र बदलती हैं, और प्रयोगात्मक से समय-सिद्ध शायद हमारी आस्था पर अधिक हावी हो जाता है। और जब कोई सृष्टि किसी भी युग-समाज के लिए संश्लिष्टि बनती है तो रस के उस उत्स को छू लेती है जो शायद सब युगों के लिए एक या समान होता है। गद्यात्मक भाषा में उसे आप साहित्य का शाश्वत अंश कह सकते हैं।

इसलिए समाज के पास रूढ़ और परम्परागत हलों के मौजूद होते हुए भी समकालीन हलों की आवश्यकता होती है, समकालीन सर्जकों की, कवियों की, लेखकों की, जो रूढ़ और परम्परागत के संस्कारों को आत्मसात करके भी उन्मुक्त हृदय, बुद्धि, मन से नवयुग-नव समाज की समस्याओं का हल निकाल सकें, नहीं तो उनसे जूझ सकें, कम से कम अपने समकालीनों को उनके प्रति सचेत कर सकें, जागरूक बना सकें।

मेरी कल्पना का स्वस्थ जन-समुदाय वह है, जिसमें अधिकांश लोग युग-समाज की अधुनातन समस्याओं के प्रति जागरूक हों—पूर्व प्रयुक्त शब्दावली में, उन्हें जगत-गति व्यापती हो; जिसके पास अपनी समस्याओं को समझने, और उनके प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करने के समुचित और सुविकसित माध्यम हों—अर्थात् सृजन से लेकर प्रकाशन-वितरण तक; जो अपने अन्दर से बराबर ऐसे लोगों को बाहर फेंकता, ऊपर उभारता रहे जो अपनी अतिशय भावप्रवणता और बुद्धि-प्रखरता के कारण

युग-समाज की समस्याओं को अधिक सूक्ष्मता और व्यापकता से समझ सकें, समझा सकें; हो सके तो कोई हल भी सुझा सकें; और जो अपने कवियों और लेखकों को प्रेरित करने के साथ ही उनसे प्रेरित भी होता रहे।

मेरी प्रथम रचना १९३२ में प्रकाशित हुई थी। तब से क़लम घिसते तीस बरस हो गए। अब ऐसा लगता है, मैं घिसता नहीं रहा हूँ, कोई मुझसे घिसाता रहा है। सृजन से प्रकाशन-वितरण तक की प्रक्रिया अपने युग-समाज-जीवन की समस्याओं के प्रति मेरी प्रतिक्रिया को आप तक पहुँचाती रही है। बीस करोड़ हिन्दी-भाषियों का दावा किया जाता है, इनमें एक हाथ की पूरी उँगलियों पर गिनने योग्य लाखों तक भी मेरी रचनाएँ शायद ही पहुँची हों। मेरे लिखे सब कुछ से परिचितों की संख्या उन्हीं उँगलियों पर हजारों से आगे शायद नहीं बढ़ेगी। प्रेरितों और प्रभावितों की बात गुण के खित्ते की है, जो मैं दूसरों के लिए छोड़ चुका हूँ। खैर, संतोष है, आप जैसे कुछ संगी-साथी है।

युग-समाज के पहलुओं का कोई हद्दोहिसाब नहीं। सभी पहलुओं पर समुचित प्रकाश डालने का ठेका मैं श्री चित्रगुप्त जी से नहीं लिखाकर लाया। स्वस्थ समाज समझदार होता है। उसका काम करनेवालों की कमी नहीं—नियोजित भी, वालंटियर भी। वालंटियर ज्यादा ही आगे-आगे फुदकते हैं। तिल उठाने की तमीज़ नहीं, ताड़ उठाने को तैयार रहते हैं—हम तो साहित्य-सेवा करना चाहते हैं—जैसे मेवा वाली कहावत कभी सुनी ही नहीं। समाज धोखा नहीं खाता। छोड़िए उनकी, अपनी बात करूँ। योग्यता, क्षमता, परिस्थितियों के बीच जो कुछ करता रहा हूँ, वह एकदम अस्वीकार्य नहीं समझा गया, इसकी गवाही, भर सकें तो, आप भरें। और अनेकानेक पहलुओं पर जो प्रकाश डाल रहे हैं, समाज का एक सदस्य होने के नाते, मैं उनसे अनभिज्ञ नहीं हूँ। आपको मुझसे शिकायत हो तो आप मेरी सीमाओं को देखने की भी कृपा करें। मुझे आपसे शिकायत नहीं। कभी होगी तो मैं अपने को टटोलूँगा। और गो मैंने एक समय अपने से बड़ी-बड़ी प्रत्याशाएँ की थीं—उसका हमेशा बुरा प्रभाव ही नहीं पड़ा, बल्कि

कुछ अच्छा ही पड़ा है, अब मुझको अपने से भी शिकायत नहीं। पचपन वर्ष की अवस्था में भी—जो सरकार में अवकाश-ग्रहण करने की उम्र समझी जाती है—अगर मैं अपनी क्षमता को ठीक-ठीक न आँककर उसे भीतर ही भीतर बढाता-चढ़ाता रहूँ तो मुझसे बड़ा ढपोरशख कौन होगा। कम आँकना पुराने मूल्यों में शालीनता समझी जाती थी। नए मूल्य परख पर है। प्रतिभा को अपने को पहचानना चाहिए। उसका उद्घोष भी करना, कराना चाहिए।

तो इसी स्पिरिट में मैं आप तक पहुँचता रहा हूँ। आज भी पहुँच रहा हूँ। अब इतना लिखने के बाद सोचता हूँ कि जब यह सब बिना कहे भी आप मुझे उसी स्पिरिट में लेते रहे है तो यह सब मैंने क्यों लिखा है। कभी जानी-समझी बातों के प्रति भी सचेत होने की आवश्यकता होती है—जैसे प्रेमी-प्रेमिका का प्रणय-निवेदन। इस प्रसंग में प्रेमी कौन है, प्रेमिका कौन? या बारी-बारी से दोनों ही दोनों? आपके प्रेम के सबूत की ओर पहले संकेत कर चुका हूँ। विश्वास करे मैं आपके लिए कम नही खटता-मिटता। "दोनों तरफ़ है आग बराबर लगी हुई।"

अब आइए, प्रस्तुत रचना के विषय मे भी दो-दो बाते कर लूँ। मैं आपको उन हजारों में ही समझ रहा हूँ जो मेरे लिखे सब कुछ से अपने को परिचित रखते रहे हैं। इसके पूर्व आपने मेरी 'त्रिभंगिमा' पढ़ी होगी। यह मेरी पचास की उम्र के बाद तीन वर्षों में लिखी गई, सतहत्तर कविताओं का संग्रह थी। वाह्य दृष्टि से तीन प्रकार की रचनाओं की—लोक-धुनों पर आधारित, छन्दोबद्ध और मुक्तछन्द की। आंतरिक दृष्टि से शायद उसमें अधिक विविधता थी। आपने अनुभव की होगी, शायद न भी की हो—जानबूझकर या अनजाने। प्रेमी-प्रेमिकाओं की जानबूझकर की गई उपेक्षा भी बड़ा मतलब रखती है।

प्रस्तुत संग्रह का नाम मैंने 'चार खेमे चौंसठ खूंटे' रख दिया है। 'त्रिभंगिमा' में तीन प्रकार की कविताएँ थी, इसमें एक और प्रकार जुड़ गया है—मंच-गान। तीन के ऊपर चार उन्नति का क्रम ही हुआ। और ये चार खेमे

चौंसठ खूंटों पर खड़े हुए हैं। यानी इसमें कुल मिलाकर चौंसठ कविताएँ हैं। सब प्रकार की कविताएँ एक ही संख्या की हों, इसका आग्रह मैंने इस बार नहीं रखा। स्वाभाविक होना ज़्यादा अच्छा लगा, भले ही कोई खेमा छोटा हो, कोई बड़ा; यह कोई फ़ौजी कैम्प नहीं है—हरएक लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई में बाल-बाल बराबर। और न खेमे-खेमे में दीवार के-से अलगाव की रूढ़ि रक्खी गई है। जहाँ चार खेमे साथ रहेंगे, वहाँ चार बर्तनों के समान आपस में टकराएँगे ही। क्या हुआ जो एक का पल्ला उड़कर दूसरे पर जा पड़ा, दूसरे का तीसरे पर। होता है ऐसा। ये सब कविताएँ पिछले दो वर्षों में लिखी गई हैं और अधिकांश समय-समय पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। नज़र से गुज़री होंगी। अब एक साथ एक क्रम में देखिए।

चार से शायद बाहरी विधा का ही बोध नहीं होता। आंतरिक विविधता का भी बोध होता है जो शायद चार से अधिक है। 'त्रि' में तो तीन ही सीमित था, पर चार में चार से बहुत अधिक भी सन्निहित है—चार दिन की चाँदनी और चार आदमी की बात में जैसे। संस्कृत और भाषा में यही तो अन्तर है। कबीर कह गए हैं, 'भाषा बहता नीर'।

खेमे के रूपक ने खूंटे की ओर संकेत किया होगा। पर कविताएँ ६४ ही क्यों रक्खीं, आप पूछ सकते हैं। कुछ तो चार के तुक-बंधुत्व के कारण। और तुकों का रिश्ता मैं मानता हूँ। फिर चौंसठ की संख्या भी अपनी संस्कृति में संदर्भ-विहीन नहीं है। एक ओर तो काम की चौंसठ कलाओं, और दूसरी ओर तन्त्र की चौंसठ योगिनियों से आप अपरिचित नहीं होंगे। काम और अध्यात्म के बीच में दुनिया है, कम-से-कम कवि की। काम की व्यापकता निष्काम को भी नहीं छोड़ती, और मेरी उम्र में पहुँचकर अध्यात्म की कुछ सुग-बुग होना भी स्वाभाविक है। अपने पूर्वज पचास वर्ष की अवस्था में वानप्रस्थ ले लिया करते थे। मैं पाँच ऊपर फाँद गया हूँ। चौंसठ खूंटों में से कुछ आसमान में गड़े नज़र आएँ तो मुझे ऐन्द्रजालिक समझने की भूल न करें। इस भौतिकता के युग में अध्यात्म को अपनी सफ़ाई देनी और क्षमा-

याचना करनी पड़ती है। वैसे आध्यात्मिकता के संस्कार इस देश में इतने पैवस्त किए गए हैं कि यहाँ जवानी भी गेरुआ रूमाल रखती है और नास्तिक भी ब्रह्मवादी होता है। फिर भी अगर आपकी उमर पकी नहीं तो संभव है, जीवन की अनिवार्य आध्यात्मिकता की ओर झुकी हुई कविताओं से आपकी सहानुभूति न हो सके। और आपको अपने को वृद्ध समझना उतना ही अस्वाभाविक होगा, जितना मुझे अपने को जवान समझना, हालाँकि कला-पारखी की कल्पना को अपनी उम्र के सालों में सीमित न होना चाहिए। नहीं तो कण्व और प्रासपेरो के साथ सहानुभूति रखने को आपको सफ़ेद बालों और झुर्रीदार गालों की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। शकुंतला और मिरांडा पर रीझना वृद्धों की कमजोरी ही न समझी जानी चाहिए।

'त्रिभंगिमा' के बाद नाम के भारी अंतर के बावजूद 'चार खेमे चौंसठ खूंटे' में आपको किसी चौंका देनेवाले परिवर्तन की प्रत्याशा न करनी चाहिए। तिरेपन वर्ष की अवस्था में मेरे जीवन, मेरे परिवेश अथवा दृष्टिकोण में कोई ऐसा परिवर्तन नहीं आ सकता—वैसे असंभव जीवन में कुछ भी नहीं—कि मैं फट से कूदकर नया मोड़ ले लूं। हिंदी में हर नई पुस्तक के साथ नया मोड़ देखनेवालों की कमी नहीं है—खासकर नए समालोचकों में। जिनके बारे में नए-नए मोड़ों की चर्चा मैं सुन चुका हूँ, यदि उनका चित्र आँखों के आगे लाना चाहूँ तो मुझे उन्हे अष्टावक्र के बड़े भाई के रूप में देखना पड़ेगा। भले आदमियो, बेमोड़ लिए आगे बढ़ना, ऊपर चढ़ना, गहरे उतरना भी जीवन की कोई नगण्य उपलब्धि नही है। नज़र बदली कि नज़ारा बदल जाता है। गति केवल बाहरी चीज़ नही, भीतरी भी है। उसके विशेषण 'क्षिप्र' और 'मन्द' ही नहीं, 'कु' और 'सु' भी है। आप चाहें तो 'दुः' भी कर सकते हैं।

एक ज़माना था, लोग भारी-भारी महल-दुमहले बनवाते थे, गहरी नीवें देते थे, चौड़ी दीवारें उठाते थे, मज़बूत पुश्ते लगवाते थे। और उसमें पीढ़ी-दर-पीढ़ी रहती चली आती थी, सैकड़ों बरसों तक। अब ज़माना इतनी तेज़ी से बढ़-बदल रहा है कि दादा का बनवाया पोते को, बाप का बनवाया बेटे

को ही नहीं, बड़े भाई का बनवाया मकान छोटे भाई को आउट-आफ़-डेट आउट-आफ़-फ़ैशन, पुराना, दक़ियानूसी लगता है। मकान बनाने का मसाला भी ऐसा लगाया जाता है कि मकान बनकर तैयार हुआ नहीं कि पहली बरसात में ही छत चूने लगती है, दीवारों में दरारें पड़ जाती है, पलस्तर उखड़ने लगता है, या लोग ही उसे ढीला करना शुरू कर देते हैं। आख़िरकार पुराने को कहाँ तक बर्दाश्त किया जाए; और उसमें दम भी तो नहीं होता कि मौसमी और इसानी हमलों के सामने टिक सके। छूते ही भरभरा पड़ता है।

मैंने भी एक दिन मन के महलों को ढहाकर उसके मलबे से अपनी मधुबाला के लिए एक मधुशाला खड़ी की थी, ऊपर मधुकलश सजाया था। ज़्यादातर लोगों ने उसे अपनी सद्भावना दी थी; थोड़ी-बहुत छेड़-छाड़ करनेवाले हर जमाने में होते है। उन्होंने उसे गिराने की धमकी भी दी थी, जोर भी कम नहीं मारा था, पर कमज़ोर ही पड़े। एक ईंट नहीं खिसकी। अब भी खड़ी है, जैसे कल ही बनकर तैयार हुई हो। नवयुवक-नवयुवतियों की भीड़ की भीड़ अब भी इसे देखने के लिए आती है। पुरानों के पुराने सम्बन्ध हुए।

जीवन सफ़र है। एक जगह घर बनाकर नहीं बैठा जा सकता। चलते-चलते मौत की अन्धकारमयी घाटियों मे जा पहुँचा। हलाहल के सोतों से पीकर भी जीता-जागता रहा। तीन भूत के डेरे वहाँ भी डाले। सभी भूत डरावने नहीं होते, न उनके सभी डेरे। उनमे जो निशा-संगीत गाया था, उसकी ध्वनियों-प्रतिध्वनियों से घाटियों का अन्तर अब भी आकुल है। उधर से गुजरने वाले सुनकर कलेजा थाम लेते है। और आगे बढ़ा। फिर रमणीक प्रदेश आया। चारों ओर मधुवन—मधुऋतु में रंगों से लदे दिन, वर्षा में सतरंगिनी मे रजित संध्याएँ, शरद में चाँदनी से धुली-खुली रातें—मिलन-यामिनी का रंगमहल उठकर खड़ा हुआ।

सफ़र जारी रहा। एक न्यारा बँगला सुदूर समुद्र-तीर पर भी बनाया, प्रणय की पानी वही मे लिख-लिख भेजी। गृह-प्रवेश पर की गई आरती—

अग्यारी की ज्वाला और अंगारे अब भी अनबुझे हैं। समय की धार के इधर-उधर भी कुछ क्वार्टर खड़े करने पड़े—धार की दया पर निर्भर, दूर रहे तो पानी को तरसे, पास रहे तो सीलन से भरे। इंसान का कोई बस नहीं। जहाँ भी कुछ दिन ठहरना होगा, ठाहर-ठाट तो करना ही होगा। फिर आए गरीब, गठीले, गर्वीले, रसीले गाँव—लोक-जीवन की आधार भूमि; कुछ झोंपड़े-झोंपड़ियाँ वहाँ भी डाल लीं, जहाँ से सुख-दुख, हर हालत में जीवन का अनवरत राग उठता रहता है। जीवन का लेंडस्केप बड़ा विचित्र है। शहरी होटलों में भी कुछ दिन गुज़ारने पड़े। खिड़कियों से जो देखा, उस पर कम नहीं झुँझलाया। बड़े-बड़े खानदानी रईसों की मेज़बानी का भी मजा उठाया, मेज का भी, बानी का भी—ऋषि-कुटियों का सात्त्विक-आतिथ्य भी स्वीकारा। दोनों जगह आचार-व्यवहार मे बड़ी सतर्कता रखनी और सावधानी बरतनी पड़ी। जीवन की यात्रा कितनी विविध, कितनी विरोध-भरी, कितनी विलक्षण रही है! हर मंजिल पर टूट जाना संभव था। कहीं से टूटा नही हूँ, साबित हूँ, कैसे कहूँ—जबकि मेरी लयें टूट-बदल गई है। हाथ-पाँव टूटते, नसें खिसकतीं तो इतना मजबूत सबूत न मिल पाता। पुरानी चोटें भी जब-तब पिराती है।

और अब देखते-देखते देश-काल बदल गए है। जमीन कही चट्टानी, कही पोली, कहीं दलदली ; रोज भूकप आता है ; रोज तूफान उठते है। कुछ भी थिर नहीं, न नीचे, न ऊपर। मकान बनाने का प्रयत्न करनेवाले नित्य विफल होते है। यह घर अभी खड़ा हुआ, अभी गिरा। वह घर बनते-बनते धसक चला। जबरजंग रंगभवनों को खड़ा करने की कला सिर धुनती है; पुराने ईट-पत्थर, लोह-लक्कड़ बिखरे पड़े है। ईर्ष्या-द्वेष खुले-आम खड़े कोसते है—जैसे मेरा गिरा, वैसे ही सबका गिरे!

तो ये चार खेमे लगा लिए है, पुराने आवासों के मिले-जुले नमूने से, कुछ अनोखापन भी लिए। जमीन जगह-जगह से दगा देती रही है—कुछ खूँटों को आकाश में भी गाड़ने की ज़रूरत पड़ी है। आसमान में कील गाड़ना आसान नही। पूर्वज अपनी तपस्या से ऐसा चमत्कार कई बार दिखा

गए हैं। यहाँ तो लाचारी थी। भूचाल, तूफ़ान, और विध्वंस के दूतों की कृपा से जितने दिन खड़ा है, खड़ा है। नहीं तो अपना डोरी-डंडा सँभाला, तंबू-डेरा समेटा और चल पड़े —

**चल बंजारे, तुझे निमंत्रित**
**करती धरती नई,**
**नया ही आसमान।**
**चल बंजारे.....**

विज्ञान भी नई ज़मीन, नये आसमान की खोज में विकल है।

१३, विलिंगडन क्रिसेंट,
नई दिल्ली–११
२७-११-१९६२

—बच्चन

## क्रम


| | |
|---|---|
| खेमे राम | २७ |
| खूँटे चंद | ३० |
| चल बंजारे | ३३ |
| चलते रहने के कुछ माने | ३६ |
| चलने की मजबूरी है | ३८ |
| कैसा मोह जगह का | ४० |
| मानुषावतार | ४२ |
| धरती कभी न धोखा देगी | ४४ |
| नभ-मंडल भयत्राता है | ४६ |
| नभ का निमंत्रण | ४९ |
| मैं कैसे हट जाऊँ | ५२ |
| यह देह | ५४ |
| बहुत दिनों पर | ५५ |
| बंजारे की समस्या | ५६ |
| फूटी गागर | ५८ |
| कुम्हार का गीत | ६० |
| गाँव की नदी | ६२ |
| बरस-तरस | ६४ |
| वर्षा मंगल | ६७ |
| जामुन चूती है | ६९ |
| खोलो किवाड़ | ७१ |
| गंधर्वताल | ७३ |
| आगाही | ७७ |

| | |
|---|---|
| हरियाने की लली | ८१ |
| मालिन बीकानेर की | ८३ |
| बीकानेर का सावन | ८६ |
| छोड़नेवाली नहीं | ८९ |
| रुपैया | ९१ |
| वर्षाऽमंगल | ९३ |
| भारत के यौवन का गीत | ९८ |
| भू-पुत्रों को चुनौती | १०१ |
| सत्य की हत्या | १०६ |
| सीधी उँगली | १०८ |
| विष-फल | ११२ |
| सहज मानव | ११६ |
| शहीद की माँ | ११९ |
| राष्ट्रपिता के समक्ष | १२१ |
| आज़ादी के चौदह वर्ष | १२७ |
| ध्वस्त पोत | १३० |
| बुलबुल को आह्वान | १३६ |
| स्वाध्याय कक्ष में बसंत | १४० |
| पुस्तक-पलायनी | १४६ |
| शब्दों से बचे | १४९ |
| अजब और अजनबी | १५१ |
| बुद्‌बुद | १५४ |
| कलश और नीव का पत्थर | १५६ |
| दैत्य की देन | १५९ |
| भीतरी काँटा | १६१ |
| दर्द और मैं | १६४ |
| अनजिए विश्वास | १६६ |

| | |
|---|---|
| दो पटरियाँ | १७० |
| बुद्ध के साथ एक शाम | १७२ |
| घर | १७५ |
| नया वर्ष | १७७ |
| पानी-मरा मोती : आग-मरा आदमी | १७९ |
| तीसरा हाथ | १८३ |
| दो चित्र | १८५ |
| प्रार्थना | १८७ |
| अनुरोध | १८९ |
| निवेदन | १९१ |
| प्रत्यावर्तन | १९३ |
| उस संसार में | १९५ |
| डूबनेवाली नावें | १९७ |
| मरण काले | २०० |


**कविताओं का क्रम स्थापित करने में सहायता देने के लिए कविवर अजितकुमार और** कहानीकार सत्येन्द्र शरत् के प्रति आभार प्रकट करना **चाहता हूँ; आदरणीय** श्री सुमित्रानन्दन पन्त के प्रति भी, जिन्होंने प्रेस में **जाने के पूर्व यह** पांडुलिपि आद्यंत पढ़कर मुझे आश्वस्त किया।

# चार ख़ेमे चौंसठ खूँटे

## खेमे राम

अहो खेमे राम,
आए बड़े मेरे काम।
मुड़कर देखता हूँ,
होश जिस दिन से सँभाला
ज़िंदगी भर मैं मुसाफ़िर ही रहा हूँ
किंतु एक 'गृहस्थ' भी
मुझमें छिपा बैठा कहीं था।
ठहरने को जहाँ भी अवसर मिला है
वहीं पर आवास कोई
खड़ा मैंने कर लिया है—
स्निग्ध शाला, घर कि रंग-महल
कि बँगला रम्य न्यारा या कि क्वार्टर
या कि मंदिर, दिव्य झोपड़ियाँ मनोहर।
परिस्थितिवश धर्मशाला में, सरायों, होटलों में
भी रहा हूँ औ' कभी आतिथ्य
राजा-जोगियों का भी मिला है।
गढ़ तथा दूकान मेरी मन-परिधि में नहीं आए।

आज मुड़कर देखता हूँ,
शेष, पथ पर मील के पत्थर सरीखे,
हैं खड़े सहते हुए आघात मौसम का, समय का।
और अब युग-देश ऐसा आ गया है
जहाँ पर सहयोग-सामग्री न साधन,
'मरु'[1] इसी को पश्चिमी कवि ने कहा है,
वक़्त की रफ़्तार भी ऐसी बढ़ी है
ईंट पर अब ईंट रखना,
यदि असंभव नहीं,
तो मुश्किल बहुत है।

इसी से तो कह रहा हूँ,
अहो खेमे राम,
आए बड़े मेरे काम।
साँस जब तक चल रही चलना पड़ेगा,
और देना भी पड़ेगा
मृत्तिका की देह को विश्राम।
कड़े कोसों का सफ़र
बे-रुके दिन भर,
ठेह-ठोकर औ'
पसीना, धूल-धक्कड़,
श्रम-शिथिल तन,
गिरा-सा मन,

---

१. 'द वेस्ट लैंड' की ओर संकेत।

उड़ा-सा सब होश,
पर यही संतोष—
हो निरल्ला,
हो निचाट नितांत,
घर तो पीठ पर है।
चार खूंटे गाड़कर खेमा लगाया,
मिल गया जो
पिया-खाया, धुआँ छोड़ा,
और जी में आ गया तो
गीत कोई गुनगुनाया,
या कि यों ही बुड़बुड़ाया,
पीठ सीधी की,
उठा, सामान बाँधा,
चल पड़ा कहता हुआ—श्री राम
दंडक बन बिहारी !
अहो खेमे राम,
आए बड़े मेरे काम !

## खूँटे चंद

सुनो खूँटे चंद,
तुमको गाड़
मैं निश्चित बिल्कुल हो गया हूँ,
बाल-तरु तुम नहीं बाला–वल्लरी जो
मुझे तुमको सींचने को, या सिंचाने को,
मशक़्क़त या ख़ुशामद किसी की
करनी पड़ेगी,
या कि भटके भेड़-बकरों से सुरक्षा;
और यदि भटके हुए इंसान
तुमको चोट देंगे,
और अंदर को धँसोगे,
और दृढ़-सुस्थिर बनोगे।
कुछ बछेड़े कूदते आएँ नज़र तो
यह समझना, वे तुम्हारे बल
प्रदर्शित ज़ोर अपना कर रहे हैं,
खेलना उनसे, दुआएँ उन्हें देना।
तब तलक अक्षुण्ण है सत्ता तुम्हारी,

जब तलक तुम भूमि को पकड़े हुए हो,
भूमि से जकड़े हुए हो।

पर नहीं दुनिया जगह अभिमान की,
भूचाल आते, ग़ज़ब के तूफ़ान उठते;
कुछ नहीं हस्ती तुम्हारी,
लाट गिरती, दीर्घ कीर्तिस्तंभ ढहते;
फिर न उठते।
कम ग़नीमत नहीं,
जो तुम यहाँ उखड़ोगे
कहीं पर फिर गड़ोगे।
क्योंकि बंजारे जिएँगे,
तो, कहीं पर हों,
खड़े खेमे करेंगे।

और ओ जो तुम
गड़े आकाश में हो,
मैं तुम्हारी ओर से बेफ़िक्र ज़्यादा।
कील अंबर में
सरलता से न गड़ती;
गड़ गई तो कभी
टस से मस न होती;
नभ हिलाता है न हिलता,
ईर्ष्या-विद्वेष धरती की उपज हैं—

और भी कमज़ोरियों-सी—
वे नहीं आकाश तक हैं पहुंच पातीं;
और पहले से वहाँ कीलें लगीं जो
वे सहारा नई को देतीं—जमातीं।

और जिस दिन गड़ गई
कीलें सभी आकाश में
यात्रा ख़तम हो जायगी,
बँध जायगा आकाश ही भुजपाश में !

## चल बंजारे

चल बंजारे,
तुझे निमंत्रित करती धरती नई,
नया ही आसमान !
चल बंजारे—

दूर गए मधुवन रँगराते,
तरु छाया फल से ललचाते,
भृंग-विहंगम उड़ते-गाते,
प्यारे, प्यारे।
चल बंजारे,
तुझे निमंत्रित करती धरती नई,
नया ही आसमान !
चल बंजारे—

छूट गई नद्दी की धारा,
जो चलती थी काट कगारा,
जो बहती थी फाँद किनारा,

मत पछता रे।
चल बंजारे,
तुझे निमंत्रित करती धरती नई,
नया ही आसमान !
चल बंजारे—

दूर गए गिरिवर गर्वीले,
धरती जकड़े, अंबर कीले,
बीच बहाते निर्झर नीले,
फेन फुहारे।
चल बंजारे,
तुझे निमंत्रित करती धरती नई,
नया ही आसमान !
चल बंजारे—

पार हुए मरुथल के टीले,
सारे अंजर-पंजर ढीले,
बैठ न थककर कुंज-करीले,
धूल-धुआँरे।
चल बंजारे,
तुझे निमंत्रित करती धरती नई,
नया ही आसमान !
चल बंजारे—

चलते-चलते अंग पिराते,

मन गिर जाता पाँव उठाते,
अब तो केवल उम्र घटाते
साँझ-सकारे ।
चल बंजारे,
तुझे निमंत्रित करती धरती नई,
नया ही आसमान !
चल बंजारे—

क्या फिर पट-परिवर्तन होगा ?
क्या फिर से तन कंचन होगा ?
क्या फिर अमरों-सा मन होगा ?
आस लगा रे ।
चल बंजारे,
तुझे निमंत्रित करती धरती नई,
नया ही आसमान !
चल बंजारे—

जब तक तेरी साँस न थमती, थमे न तेरा
क़दम, न तेरा कंठ-गान !
चल बंजारे—

## चलते रहने के कुछ माने

लक्ष्य-सपन सब जिनके खँडहर निकले हैं,
उनके चलते रहने के कुछ माने हैं।

कुछ क़िस्मत के साँड़ जगत में होते हैं,
संघर्षों के जुए न जाते जोते हैं,
बे-नकेल वे घूम-घूमकर खेतों में
खाते हैं जो दुनियावाले बोते हैं।
वे जग-जीवन की गति से अनजाने हैं।
लक्ष्य-सपन सब जिनके खँडहर निकले हैं,
उनके चलते रहने के कुछ माने हैं।

जग कुछ संघर्षों का मूल्य चुकाता है,
पानी पाता जो श्रम-बिंदु बहाता है,
गणित-धर्म वे कर्म करों में रखते हैं,
लक्ष्य वहीं है हाथ जहाँ तक जाता है।
वे दुनिया की शब्दावलि में दाने हैं।
लक्ष्य-सपन सब जिनके खँडहर निकले हैं,
उनके चलते रहने के कुछ माने हैं।

कुछ अपना बल देख न पाते बाँहों में,
देखा करते हैं अरमानों, चाहों में,
जो आँखें रखकर अज्ञात, असंभव पर
भटका करते हैं अनजानी राहों में,
दुनिया की नज़रों में वे दीवाने हैं।
लक्ष्य-सपन सब जिनके खँडहर निकले हैं,
उनके चलते रहने के कुछ माने हैं।

तुम उन दीवानों में हो तो मेरे हो,
तुम भविष्य जग-जीवन-काल चितेरे हो;
नई धरणि, आकाश नया तुम देखोगे,
तोड़ गिराए क्योंकि पुराने घेरे हो,
और न गाते हो जो राग पुराने हैं।
लक्ष्य-सपन सब जिनके खँडहर निकले हैं,
उनके चलते रहने के कुछ माने हैं।

बार-बार भी हार न जो तुम बैठोगे,
बार-बार भी जीत न जो तुम ऐंठोगे,
जहाँ अमर मानव का भाग्य सिहाते हैं,
वहाँ किसी दिन पैठोगे, तुम पैठोगे।
गूँजे युग-युग ये विश्वास-तराने हैं।
लक्ष्य-सपन सब जिनके खँडहर निकले हैं,
उनके चलते रहने के कुछ माने हैं।

## चलने की मजबूरी है

रुकने की कुछ को तो कुछ को
चलने की मजबूरी है।
चलने की मजबूरी है।

पास पड़ा सब जाना-जाना,
जाना-जाना जो अपमाना,
मेरी आँखों को आकर्षक
अनजानी यह दूरी है।
रुकने की कुछ को तो कुछ को
चलने की मजबूरी है।

पग चलते हैं, तन चलता है;
तन चलता है, मन चलता है;
मन चलता तो जीवन चलता;
चलना नित्य ज़रूरी है।
रुकने की कुछ को तो कुछ को
चलने की मजबूरी है।

बाहर का आकर्ष नहीं कम,
भीतर का आदर्श—नहीं थम,
ऊपर का आदेश कि भ्रम-भ्रम,
नीचे भूमि ततूरी है।
रुकने की कुछ को तो कुछ को
चलने की मजबूरी है।

कुछ आँखों के आर ख़ज़ाना,
कुछ आँखों के पार ख़ज़ाना,
वह अनपाया तो मानव की
थाती-थाप अधूरी है।
रुकने की कुछ को तो कुछ को
चलने की मजबूरी है।
चलने की मजबूरी है।

## कैसा मोह जगह का !

जिसको सारी धरती प्यारी
उसको कैसा मोह जगह का !
कैसा मोह जगह का !

कहीं नए गिरि, सरवर, नाले,
नई हवा के झोंके–झाले,
नई वज़े के बसने वाले,
इस लंबी-चौड़ी धरती पर,
आकर्षण है तरह-तरह का।
जिसको सारी धरती प्यारी
उसको कैसा मोह जगह का !

कहीं उभरते ख़्याल पुराने,
मिलते दर्द नये अनजाने,
नये निकलते तर्ज़–तराने,
नए गगन में गूँजा करता
राग मिलन का, गीत विरह का।
जिसको सारी धरती प्यारी
उसको कैसा मोह जगह का !

कहीं अजाने लगते जाने,
मिलते जन्मों के पहचाने,
अपने से लगते बेगाने,
कहीं रमा मन, कहीं लगा मन,
और कहीं पर बहका-बहका।
जिसको सारी धरती प्यारी
उसको कैसा मोह जगह का !

नये क्षितिज की नई पुकारें,
नव-नव किरणों की मनुहारें,
किसको स्वीकारें, इन्कारें,
चहक-भरा सारा नभ-मंडल,
निखिल धरा का अंचल महका।
जिसको सारी धरती प्यारी
उसको कैसा मोह जगह का !

बैठ कहाँ जाएगा, पगला ?
पीछे पड़ता पाँव न अगला,
पंथ न बदला, पंथी बदला।
शाम न लौटा उसी जगह को
कभी यहाँ पर पांथ सुबह का।
जिसको सारी धरती प्यारी
उसको कैसा मोह जगह का !
कैसा मोह जगह का !

## मानुषावतार

नीचे धरती लंबी-चौड़ी
ऊपर गगन रहस्य भरा;
नन्हाँ-सा इंसान यहाँ क्या
दो पाटों के बीच पड़ा ?
अचरज क्या, घबराया है।

पालक, रक्षक, पंथ-प्रदर्शक
प्रभु क्या अंतर्धान हुआ ?
झूठे ऋषि - मुनि - नायक,
गायक निकले, सच विज्ञान हुआ ?
उसने प्रश्न उठाया है।

सच ने सारी धरती खूंदी,
अंबर सारा चीर दिया,
किन्तु कहीं भी मिला न उसको
इंसानों का पीर-पिया ।
क्या सब जग झुठलाया है ?

क्या मालिक इंसान बनेगा
भू मंडल का, तारों का,
अविरत क्रम से आने-जाने
वाले साँझ-सकारों का ?
अहं-अहं स्वर छाया है।

क्या इंसान बनेगा मालिक
भी अपना, अपने मन का ?
तब तो पालक, रक्षक, पंथ-
प्रदर्शक होगा जन-जन का।
मानव कुछ सकुचाया है।

क्या इंसान बनेगा साथी
जन-जन की हर पीड़ा का ?
समय धरा के घर-आँगन में
प्रभु की करुणा-क्रीड़ा का
नहीं अभी तक आया है।

## धरती कभी न धोखा देगी

धरती धोखा कभी न देगी,
माता है।
तन में आया तनय कि तन के वर आते,
करुणा के, ममता के मधु घट भर जाते,
उफन पड़ें ये, उमड़ पड़ें, रस ढरकाएँ,
शिशु को कोई यों ही नहीं रुलाता है।
माता है।
धरती धोखा कभी न देगी,
माता है।

रस को बल-भर खींच रसा यह तेरी है,
यह केवल स्वामिनी न तेरी, चेरी है,
यह तेरी संगिनी, सहेली, साथिन भी,
इससे तेरा तरह-तरह का नाता है।
माता है।
धरती धोखा कभी न देगी,
माता है।

छोड़ इसे भागेगा ? क्या बौराया है !
पलक-पाँवड़ा सारी जगह बिछाया है ।
चूमे, सहलाए, ठुकराए, चुभ जाए,
इस पर कोई कब अपराध लगाता है।
माता है ।
धरती धोखा कभी न देगी,
माता है।

हो सकता है तुझे लगे यह क्रूर कभी,
पावों से यदि नहीं, हृदय से दूर कभी,
इसके भी जलने-गलने की घड़ियाँ हैं,
सह कुछ तू जो इसको दैव सहाता है।
माता है।
धरती धोखा कभी न देगी,
माता है ।

क्रूर, दूर, मजबूर धरा है, मान लिया,
मान लिया अब इसका है पाषाण हिया,
फिर भी तू मत हार, न कातर, कादर बन,
भूल न तुझ पर अंबर का भी छाता है।
माता है।
धरती धोखा कभी न देगी,
माता है।

## नभ-मंडल भयत्राता है

भूमि करे आतंकित भी तो
नभ-मंडल भयत्राता है।
भयत्राता है।

हरी कहीं तो, लाल कहीं पर,
काली-पीली-खाल कहीं पर
धरती, अंबर नीलम-नीले
एक रंग में राता है।
भूमि करे आतंकित भी तो
नभ-मंडल भयत्राता है।

ऊँचे-ऊँचे शृंग कहीं पर
और कहीं पर गहरे गह्वर
धरती पर, अंबर नीरव सम-
साम गान ही गाता है।
भूमि करे आतंकित भी तो
नभ-मंडल भयत्राता है।

फूल, कुसुम, सुमनों की बारी,
कितनी मेड़ें, कितनी क्यारी !
धरती पर, अंबर कलियों का
मधुबन एक सुहाता है।
भूमि करे आतंकित भी तो
नभ-मंडल भयत्राता है।

तरह-तरह की बोली बोली,
गाँठ न भू ने मन की खोली,
सायँ-सायँ करता भी अंबर
सारा भेद बताता है।
भूमि करे आतंकित भी तो
नभ-मंडल भयत्राता है।

इस धरती पर डगर बहुत हैं,
टेढ़ी-मेढ़ी मगर बहुत हैं।
एक इशारा नभ-मंडल का
दिग्निर्देश कराता है।
भूमि करे आतंकित भी तो
नभ-मंडल भयत्राता है।

स्वर्ण-किरण-मय, मंद-पवन-लय,
किंचित बिज्जु-बवंडर का भय;
परख रहा, अंबर बेटे को
साहस करना आता है?

भूमि करे आतंकित भी तो
नभ-मंडल भयत्राता है।

बाप झिड़क दे, माँ चुमकारे,
मारे माँ तो बाप दुलारे,
इस घर से मनु के बेटे का
सुंदर-सुखकर नाता है।
भूमि करे आतंकित भी तो
नभ-मंडल भयत्राता है।

## नभ का निमंत्रण

शब्द के आकाश पर उड़ता रहा,
पद-चिन्ह पंखों पर मिलेंगे।

एक दिन भोली किरण की लालिमा ने
क्यों मुझे फुसला लिया था,
एक दिन घन-मुसकराती चंचला ने
क्यों मुझे बहका दिया था,
एक राका ने सितारों से इशारे
क्यों मुझे सौ-सौ किए थे,
एक दिन मैंने गगन की नीलिमा को
किसलिए जी भर पिया था?
आज डैनों की पकी रोमावली में
वे उड़ानें एक धुँधली याद-सी हैं;
शब्द के आकाश पर उड़ता रहा,
पद-चिन्ह पंखों पर मिलेंगे।

याद आते हैं गरुड़-दिग्गज घनों को
चीरनेवाले झपटकर,

## मैं कैसे हट जाऊँ

('अब मैं नाच्यों बहुत गोपाल' और 'नाचत ही निसि-दिवस मर्‌यो' के गायकों के प्रति क्षमा-याचना सहित)

मेरे प्रियतम नाच रहे हैं, मैं कैसे हट जाऊँ।
कुछ भी ज्ञात नहीं, क्या मुझमें
देखा, संग लगाया,
कुछ भी याद नहीं है, कब से
मुझको अंग लगाया;
ग़लत पसंद जगत में उनकी
दर-दर कहलाएगी;
मेरे प्रियतम नाच रहे हैं, मैं कैसे हट जाऊँ।

अंबर के सँग नाच रहे हैं
अनगिन रवि, शशि, तारे,
धरती के सँग नाच रहे हैं
गिरि, तृण, तरु छतनारे,
जंतु-जंतु के तंतु-तंतु में
नाच रही अभिलाषा;

अविरत, अविरल, नर्तक-दल से मैं ही क्यों कट जाऊँ।
मेरे प्रियतम नाच रहे हैं, मैं कैसे हट जाऊँ।

बहुत किया अभिमान कि उनकी-
मेरी अनुपम जोड़ी,
अब क्यों घबराऊँ जब उनसे
मेरी होड़ा - होड़ी,
तन हारे की हार नहीं जो
मन की बाज़ी जीते,
तन विथकित हो, तन विघटित हो, मन से क्यों घट जाऊँ।
मेरे प्रियतम नाच रहे हैं, मैं कैसे हट जाऊँ।

दो में, चाहे लय-मय झूमे,
चाहे जाय घसीटा,
परबस खाया मीठा माहुर,
निज बस माहुर मीठा;
किसको है अधिकार यहाँ पर
क्षण भर को थम जाए,
मैं प्रियतम के अंग-अंग से और निकट सट जाऊँ।
मेरे प्रियतम नाच रहे हैं, मैं कैसे हट जाऊँ।

## यह देह

प्रभु-मंदिर यह देह, री !

क्षिति की क्षमता,
जल की समता,
पावक-दीपक जाग्रत-ज्योतित निशि-दिन प्रभु का नेह, री !
प्रभु-मंदिर यह देह, री !

गगन असीमित,
पवन अलक्षित,
प्रभु-करुणा से पल-पल रक्षित यह पँचमहला गेह, री !
प्रभु-मंदिर यह देह री !

अतिथि पधारो,
भाग्य सँवारो,
क्षण-भर को कंचन छवि पाए चरण-बिछी यह खेह, री !
प्रभु-मंदिर यह देह, री !

## बहुत दिनों पर

मैं तो बहुत दिनों पर चेता !

श्रम कर ऊबा,
श्रम-कण डूबा,
**सागर को खेना** था मुझको रहा शिखर को खेता।
मैं तो बहुत दिनों पर चेता !

थी मति मारी,
था भ्रम भारी,
**ऊपर अंबर** गर्दीला था, नीचे भँवर-लपेटा।
मैं तो बहुत दिनों पर चेता !

यह किसका स्वर ?—
भीतर ? बाहर ?
**कौन निराशा**-कुंठित घड़ियों में मेरी सुधि लेता !
मैं तो बहुत दिनों पर चेता !

मत पछता रे,
खेता जा रे,
**अंतिम क्षण** में चेत जाय जो वह भी सत्वर चेता !
मैं तो बहुत दिनों पर चेता !

## बंजारे की समस्या

(उत्तर प्रदेश की एक लोकधुन पर आधारित)

अंगड़-खंगड़ मोह सभी से,
क्या बाँधूं, क्या छोड़ूँ रे।
क्या लादूं, क्या छोड़ूँ रे।

कण-कण करके दुनिया जोड़ी,
कितनी भुक्खड़ चाह निगोड़ी !
सबके प्रति मन में कमज़ोरी,
किससे नाता तोड़ूँ रे।
अंगड़-खंगड़ मोह सभी से,
क्या बाँधूं, क्या छोड़ूँ रे।
क्या लादूं, क्या छोड़ूँ रे।

झोपड़ियाँ कुछ पीठ लिये हैं,
कुछ महलों को पीठ दिये हैं,
भोगी त्यागी, त्यागी भोगी—
दो में किसको होड़ूँ रे।
अंगड़-खंगड़ मोह सभी से,

क्या बाँधूं, क्या छोड़ूँ रे।
क्या लादूं, क्या छोड़ूँ रे।
तिनका साथ नहीं चलता है,
बोझा फिर भी सिर खलता है,
तन की आँखें मोड़ीं, कैसे
मन की आँखें मोड़ूँ रे।
अंगड़-खंगड़ मोह सभी से,
क्या बाँधूं, क्या छोड़ूँ रे।
क्या लादूं, क्या छोड़ूँ रे।

अपना कहकर हाथ लगाऊँ,
कैसा रखवारा ! कहलाऊँ ?
जिसका सारा माल-मता है
उससे नाता जोड़ूँ रे।
अंगड़-खंगड़ मोह सभी से,
क्या बाँधूं, क्या छोड़ूँ रे।
क्या लादूं, क्या छोड़ूँ रे।

## फूटी गागर

( उत्तर प्रदेश की एक लोकधुन पर आधारित )

जगह-जगह से गागर फूटी,
राम, कहाँ तक ताऊँ रे ।
ताऊँ रे, भइ, ताऊँ रे।

पार करूँ पनघट की दूरी,
चलूँ गगर भर-भरकर पूरी,
जब घर की चौखट पर पहुँचूं
बिल्कुल छूंछी पाऊँ रे ।
जगह-जगह से गागर फूटी,
राम, कहाँ तक ताऊँ रे।
ताऊँ रे, भइ, ताऊँ रे।

देहरी प्यासी, आँगन प्यासा,
पथ पर चलता है चौमासा,
चोली, चूनर-भीग नहाती,
मैं भी साथ नहाऊँ रे।

जगह-जगह से गागर फूटी,
राम, कहाँ तक ताऊँ रे।
ताऊँ रे, भइ, ताऊँ रे।

ख़ाली गागर ले घर आऊँ,
घरवालों की गाली खाऊँ,
भीगी आऊँ, भीगी जाऊँ
बाहर हँसी कराऊँ रे।
जगह-जगह से गागर फूटी,
राम, कहाँ तक ताऊँ रे।
ताऊँ रे, भइ, ताऊँ रे।

नई गगर की क़ीमत भारी,
और पुरातन से मैं हारी,
घट की भी तो है लाचारी,
किस पर दोष लगाऊँ रे।
जगह-जगह से गागर फूटी,
राम, कहाँ तक ताऊँ रे।
ताऊँ रे, भइ, ताऊँ रे।

## कुम्हार का गीत

( ताली की ताल पर गाने के लिए )

चाक चले चाक !

चाक चले चाक !
अंबर दो फाँक—
आधे में हंस उड़े, आधे में काक !
चाक चले चाक !

चाक चले चाक !
धरती दो फाँक—
आधी में नीम फले, आधी में दाख !
चाक चले चाक !

चाक चले चाक !
दुनिया दो फाँक—
आधी में चाँदी है, आधी में राख !
चाक चले चाक !

चाक चले चाक !
जीवन दो फाँक—
आधे में रोदन है, आधे में राग !
चाक चले चाक !

चाक चले चाक !
बाज़ी दो फाँक,
खूब सँभल आँक—
जुस है किस मुट्ठी में, किस मुट्ठी, ताक ?
चाक चले चाक !

चाक चले चाक !
चाक चले चाक ! ···

## गाँव की नदी

(सहगान के लिए : उत्तर प्रदेश की एक लोक-धुन पर आधारित,
जिसको ढिढिया कहते हैं)

नदिया गाँव के सिवाने को सहलाती चली जाय,
सहलाती चली जाय, सहलाती चली जाय,
नदिया गाँव के सिवाने को सहलाती चली जाय,
दिन-राती चली जाय !
जाने कौन कहाँ से आती,
जाने कौन कहाँ को जाती,
अपनी गति-लय में मदमाती, लहराती चली जाय,
लहराती चली जाय, इतराती चली जाय,
नदिया गाँव के सिवाने को सहलाती चली जाय !

कितने स्वप्न बहाकर लाती,
तट पर कितने स्वप्न लगाती,
तट से कितनों को धारा में बहाती चली जाय,
वह बहाती चली जाय, वह ढहाती चली जाय,
नदिया गाँव के सिवाने को सहलाती चली जाय !

चाहे इसमें दूध चढ़ाओ,
चाहे इसमें मौर सराओ,
चाहे फूल बहाओ, नदिया गुनगुनाती चली जाय,
गुनगुनाती चली जाय, धुन सुनाती चली जाय,
नदिया गाँव के सिवाने को सहलाती चली जाय !

कितनी नावें पार लगाती,
कितनी नावें भँवर डुबाती,
मेरी कागद की डोंगी को दुलराती चली जाय,
दुलराती चली जाय, हलराती चली जाय,
नदिया गाँव के सिवाने को सहलाती चली जाय !
दिन-राती चली जाय !

## बरस-तरस

जब तुम बरसो तब मैं तरसूं,
जब मैं तरसूं तब तुम बरसो, हे धाराधर !

मेरी अंतर्ज्वाला जागी,
अंबर ने बरसा दी आगी,
आकुल मेरा मन अनुरागी,
मेरे उच्छ्वासों का बादल
छाया नयनों में मँडलाकर।
जब तुम बरसो तब मैं तरसूं,
जब मैं तरसूं तव तुम बरसो, हे धाराधर !

शब्दों से कुछ न कहूँगा मैं,
नयनों के बीच रहूँगा मैं,
जो सहना मौन सहूँगा मैं,
मेरी धड़कन, मेरी आहें,
माँगेंगी तुमसे प्रत्युत्तर।
जब तुम बरसो तब मैं तरसूं,
जब मैं तरसूं तब तुम बरसो, हे धाराधर !

ज्वाला से ज्वाला को जानो,
पानी से तृष्णा पहचानो,
ऐसे न कही मेरी मानो,
अपने गर्जन-तर्जन में तुम
प्रतिध्वनित सुनो मेरा अंतर।
जब तुम बरसो तब मैं तरसूँ,
जब मैं तरसूँ तब तुम बरसो, हे धाराधर!

तुम आओ, पर न बुलाऊँ मैं,
पट खोलूँ, तुमको पाऊँ मैं,
दो बहुत न किंतु अघाऊँ मैं,
दो कम भी तो दूँ सींच धरा
भीतर से उफना-उफनाकर।
जब तुम बरसो तब मैं तरसूँ,
जब मैं तरसूँ तब तुम बरसो, हे धाराधर!

यह भार तुम्हीं पर भारी है,
ऊपर बिजली की धारी है,
क्या मेरी ही लाचारी है?
कुछ रिक्त भरा हो जाऊँ मैं,
कुछ भार तुम्हारा जाय उतर।
जब तुम बरसो तब मैं तरसूँ,
जब मैं तरसूँ तब तुम बरसो, हे धाराधर!

तुम बरसो भीगे मेरा तन,
तुम बरसो भीगे मेरा मन,
तुम बरसो सावन के सावन,
कुछ हलकी छलकी गागर हो,
कुछ भीगी–भारी हो कामर।
जब तुम बरसो तब मैं तरसूं,
जब मैं तरसूं तब तुम बरसो, हे धाराधर !

## वर्षा मंगल

(ढोलक पर सहगान के लिए : उत्तर प्रदेश की एक लोक-धुन पर आधारित)

घन बरसे, भीग धरा गमके,
घन बरसे !

यह भूमि भली,
यह बहुत जली,
यह और न अब जल को तरसे,
घन बरसे !
घन बरसे, भीग धरा गमके,
घन बरसे,

परबत भीगे,
घर-छत भीगे,
भीगे बन, खेत, कुटी झर से,
घन बरसे !
घन बरसे, भीग धरा गमके,
घन बरसे !

फूटे क्यारी,
नव नर-नारी,
बहकें, चहकें मधुमय स्वर से,
घन बरसे !
घन बरसे, भीग धरा गमके,
घन बरसे !

नव धान उठे,
नव गान उठे,
सबके खेतों से, सब घर से,
घन बरसे !
घन बरसे, भीग धरा गमके
घन बरसे !

ढोलक ठनके,
रूठी मन के
रूठे प्रियतम के ढिग बिहँसे,
घन बरसे !
घन वरसे, भीग धरा गमके,
घन बरसे !

रसधार गिरे,
दिन सरस फिरे,
पपिहा तरसे न पिया तरसे,
घन बरसे !
घन बरसे, भीग धरा गमके,
घन बरसे !

## जामुन चूती है

(ढोलक-मजीरे पर सहगान के लिए : उत्तर प्रदेश की एक लोक-धुन पर आधारित)

अब गाँवों में घर-घर शोर
कि जामुन चूती है।

सावन की बदली
अंबर में मचली,
भीगी-भीगी होती भोर
कि जामुन चूती है।
अब गाँवों में घर-घर शोर
कि जामुन चूती है।

मधु की पिटारी
भौंरे-सी कारी,
बागों में पैठें न चोर
कि जामुन चूती है।
अब गाँवों में घर-घर शोर
कि जामुन चूती है।

झुक-झुक बिने जा,
सौ-सौ गिने जा,
क्या है कमर में न ज़ोर
कि जामुन चूती है?
अब गाँवों में घर-घर शोर
कि जामुन चूती है।

डालों पे चढ़कर,
हिम्मत से बढ़कर,
मेरे बीरन, झकझोर
कि जामुन चूती है।
अब गाँवों में घर-घर शोर
कि जामुन चूती है।

रस के कटोरे
दुनिया बटोरे,
रस बरसे सब ओर
कि जामुन चूती है।
अब गाँवों में घर-घर शोर
कि जामुन चूती है।

## खोलो किवाड़

(ढोलक-मजीरे पर सहगान के लिए : उत्तर प्रदेश की एक लोक-धुन पर आधारित)

पिया, खोलो किवाड़,
पिया, खोलो किवाड़,
कोयल की गूँजीं पुकारें।

बगिया में मरमर,
दुनिया में जगहर,
उतरीं किरन की कतारें।
पिया, खोलो किवाड़,
पिया, खोलो किवाड़,
कोयल की गूँजीं पुकारें।

कलियों में गुन-गुन,
गलियों में रुन-झुन,
अंबर से गातीं बहारें।
पिया, खोलो किवाड़,
पिया, खोलो किवाड़,
कोयल की गूँजीं पुकारें।

पतझर को भूली,
हर डाली फूली,
बीती को हम भी बिसारें।
पिया, खोलो किवाड़,
पिया, खोलो किवाड़,
कोयल की गूँजीं पुकारें।

गूँगी थीं घड़ियाँ,
गीतों की कड़ियाँ,
वीणा को फिर झनकारें।
पिया, खोलो किवाड़,
पिया, खोलो किवाड़,
कोयल की गूँजीं पुकारें।

माना कि दुख है,
बिधना विमुख है,
आओ उसे ललकारें।
पिया, खोलो किवाड़,
पिया, खोलो किवाड़,
कोयल की गूँजीं पुकारें।

## गंधर्व-ताल*

( लछिमा का गीत )

(सहगान के लिए : उत्तर प्रदेश की एक लोक-धुन पर आधारित)

छितवन की,
छितवन की ओट तलैया रे,
छितवन की !

---

* यह और इसके बाद का गीत फुटनोट में दी गई व्याख्याओं के साथ २३-९-'६२ को आकाशवाणी केन्द्र, नई दिल्ली से प्रसारित किया गया :

आज आपको अपने दो गीत सुनाने जा रहा हूँ। ये दोनों ही उत्तर प्रदेश की लोक-धुनों पर आधारित है। लयें अलग-अलग हैं, पर दोनों गीत एक-दूसरे से स्वतन्त्र नहीं हैं। पहला गीत प्रेमिका का कथन है, दूसरा, प्रेमी का।

पहले गीत का शीर्षक है 'गंधर्व-ताल'। इसे आप लछिमा का गीत समझें—लछिमा प्रेमिका का कल्पित नाम है—साँवर, प्रेमी का।

लय बहुत सूक्ष्म किंतु बहुत सबल सूत्र है। उसे पकड़ते ही वह आपको अपने वातावरण में खींच लेती है। या यों कह सकते हैं कि लोक-धुन के साथ लोक-जीवन ही आपको अपने में रमा लेता है।

लोक-जीवन में ऐसा बहुत कुछ है जिसे एक युग तक उपेक्षा अथवा

जल नील-नवल,
शीलत, निर्मल,
जल तल पर सोन-चिरैया रे,
छितवन की,
छितवन की ओट तलैया रे,
छितवन की !

---

भर्त्सना के साथ देखने के बाद अब हम नागरिक कुछ ईर्ष्या की दृष्टि से देखने लगे हैं—हाय, हमारे जीवन से ये चीज़ें निकल गई हैं !

इनमें से एक है अज्ञात के प्रति आकर्षण, उसके प्रति कल्पना, उससे साकार होने की कामना।

खुले हुए भू-भाग में छितवन का एक घना वन है, वन के बीचोबीच में एक छोटा-सा ताल है, वहाँ पहुँचना दुर्गम है। पर लोक-कल्पना कब हार मानती है ? वह कैसा ताल है, कौन उसमें नहाने आते हैं, बड़े ही अद्‌भुत लोग होंगे जो उस ताल में—संसार की आँखों से दूर—जल-क्रीड़ा करने आते होंगे। क्या उनके साथ स्नान करने का लोभ संवरण किया जा सकता है ?

स्नान नागरिक जीवन में एक आवश्यक, दैनिक क्रिया है, और कुछ नहीं। पर हमारे सांस्कृतिक जीवन में, किसी विशेष नदी, तालाब, निर्झर, सागर तट पर नहाने के लिए भारत की अपार जनता ने इस देश को आरपार कितना खूँदा होगा, इसका कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

कौन साहस करेगा कि इस प्रवृत्ति को निरर्थक कहे।

छितवन की ओट में जो तलैया है उसमें स्नान करने की आकांक्षा के लिए आप लछिमा को कैसे दोषी ठहराएँगे ?

सित-रक्त कमल
झलमल-झलमल,
दल पर मोती चमकैया रे,
छितवन की,
छितवन की ओट तलैया रे,
छितवन की !

दर्पण इनमें,
बिंबित जिनमें
रवि-शशि-कर गगन-तरैया रे,
छितवन की,
छितवन की ओट तलैया रे,
छितवन की !

जल में हलचल,
कलकल, छलछल,
झंकृत कंगन,
झंकृत पायल,
पहुँचे जल-खेल-खेलैया रे,
छितवन की,
छितवन की ओट तलैया रे,
छितवन की !

साँवर, मुझको
भी जाने दे,

पोखर में कूद
नहाने दे;
लूं तेरी सात बलैया रे,
छितवन की,
छितवन की ओट तलैया रे,
छितवन की !

## आगाही*

(साँवर का गीत)

(सहगान के लिए : उत्तर प्रदेश की एक लोक-धुन पर आधारित,
जिसे ढिंढिया कहते हैं)

पच्छिम ताल पर न जाना, न नहाना, लछिमा !
मत जाना, लछिमा; मत नहाना, लछिमा !
पच्छिम ताल पर न जाना, न नहाना, लछिमा !

---

* दूसरे गीत का शीर्षक है 'आगाही'। यह लछिमा के प्रेमी साँवर का गीत है। साँवर शायद उसका नाम इसलिए दिया गया होगा कि वह साँवला था।

लोक-जीवन का जहाँ एक पक्ष यह है कि वह कल्पना की ओर झुकता है, वहाँ उसका दूसरा पक्ष यह भी है कि वह वास्तविकता से चिपका रहता है। कल्पना वहीं तक अच्छी है जहाँ तक वह मन को सहलाए, दुलराए, गुदगुदाए; अगर वह वास्तविकता से, पाँवों के नीचे की धरती से, अलग खींचती है तो लोक-जीवन फ़ौरन सतर्क हो जाता है। पर वास्तविकता की महत्ता बताने के लिए वह तर्क का सहारा नहीं लेता। वह भय, जनश्रुति, दंतकथा, अन्धविश्वास सबकी सहायता लेता है। अब तो मनोविज्ञान भी हमको बताता है कि हमारे महत्त्वपूर्ण कार्यों का शायद एक प्रतिशत तर्क-सम्मत होता हो।

छितवन के तरुवर बहुतेरे
उसको चार तरफ़ से घेरे,
उनकी डालों के भुलावे में न आना, लछिमा !
उनके पातों की पुकारों, उनकी फुनगी के इशारों,
उनकी डालों के बुलावे पर न जाना, लछिमा !
पच्छिम ताल पर न जाना, न नहाना, लछिमा !

उनके बीच गई सुकुमारी,
अपनी सारी सुध-बुध हारी;
उनकी छाया-छलना से न छलाना, लछिमा !
न छलाना, लछिमा; न भरमाना, लछिमा !

---

जनश्रुति है कि कई बार ऐसा हुआ है कि कुमारियाँ छितवन की ओट की तलैया में नहाने गई हैं और लौटकर नहीं आई। इसके ऐतिहासिक सच-झूठ की जाँच-पड़ताल करने की आवश्यकता नहीं। साँवर इसी का सहारा लेकर अपनी लछिमा को वहाँ जाने से रोकता है।

यह कल्पना को वास्तविकता को आगाही है।

साथ ही प्रेमी की एक स्वाभाविक आशंका भी इस आगाही में छिपी है। वह तो साधारण, साँवला, मिट्टी का पुतला है। अगर लछिमा ने दिव्य, गोरे, गन्धर्वों को देख लिया तो कहीं ऐसा न हो कि साँवर उसके मन से उतर जाए। अगर लछिमा कभी अनजाने ऐसे गन्धर्वों के घेरे में पड़ ही जाय तो उनसे बचने का मन्त्र भी वह बतलाता है। गोरे की काट है काला। वह अपने साँवरे को याद करे जो उस पर बावरा है।

पच्छिम के गोरे गन्धर्वों में अनायास ही एक और संकेत आ गया है जिसकी कल्पना मैं अपने श्रोताओं पर छोड़ देना चाहूँगा।

उनकी छाया-छलना से न छलाना, लछिमा !
पच्छिम ताल पर न जाना, न नहाना, लछिमा !

जो सुकुमारी ताल नहाती,
वह फिर लौट नहीं घर आती,
हिम-सी गलती ; यह जोखिम न उठाना, लछिमा !
न उठाना, लछिमा; न उठाना, लछिमा !
जल में गलने का जोखिम न उठाना, लछिमा !
पच्छिम ताल पर न जाना, न नहाना, लछिमा !

गोरे गंधर्वों का मेला
जल में करता है जल-खेला,
उनके फेरे, उनके घेरे में न जाना, लछिमा !
उनके घेरे में न जाना, उनके फेरे में न पड़ना,
उनके फेरे, उनके घेरे में न जाना, लछिमा !
पच्छिम ताल पर न जाना, न नहाना, लछिमा !

उनके घेरे में जो आता,
वह बस उनका ही हो जाता,
जाता उनको ही पिछुआता हो दीवाना, लछिमा !
हो दीवाना, लछिमा, हो दीवाना, लछिमा !
जाता उनको ही पिछुआता हो दीवाना, लछिमा !
पच्छिम ताल पर न जाना, न नहाना, लछिमा !

जिसके मुख से 'कृष्ण' निकलता,
उसपर ज़ोर न उनका चलता,

उनके बीच अगर पड़ जाना,
अपने साँवर बावरे को न भुलाना, लछिमा !
न भुलाना, लछिमा; न बिसराना, लछिमा !
अपने साँवर बावरे को न भुलाना, लछिमा !
पच्छिम ताल पर न जाना, न नहाना, लछिमा !

मत जाना, लछिमा; मत नहाना, लछिमा !
पच्छिम ताल पर न जाना, न नहाना, लछिमा !

## हरियाने की लली

(सहगान के लिए : उत्तर प्रदेश की एक लोक-धुन पर आधारित,
जिसे ढिंढिया कहते हैं )

आई दिल्ली की नगरिया में हरियाने की लली,
रे हरियाने की लली, रे हरियाने की लली,
आई दिल्ली की नगरिया में हरियाने की लली।

देशों में प्रदेश हरियाना,
जिसमें दूध-दही का खाना,
माटी मथने से जैसे लवनी-सी निकली,
लवनी-सी निकली, लवनी-सी निकली,
आई दिल्ली की नगरिया में हरियाने की लली।

उसको, पर, न मुलायम जानो,
उसकी सख़्ती भी पहचानो,
वह है मीठी भी, कड़ी भी, जैसे मिश्री की डली,
जैसे मिश्री की डली, जैसे मिश्री की डली,
आई दिल्ली की नगरिया में हरियाने की लली।

एड़ी और हथेली रँगकर,
रंगारंग पटों से सजकर,
अंगों को मेहनत से कसकर वह बलखाती-सी चली,
वह बलखाती-सी चली, वह इतराती-सी चली,
आई दिल्ली की नगरिया में हरियाने की लली।

उसकी चूनर क्या फहराई
अंबर में बिजली लहराई,
उसका घाँघर क्या घुमराया धरती झूमती चली,
धरती झूमती चली, धरती घूमती चली,
आई दिल्ली की नगरिया में हरियाने की लली।

उसको देख शहर की नारी,
पच्छिम के फ़ैशन की मारी,
करती मोटर की सवारी, मारे लाज के गली,
मारे लाज के गली, मारे डाह के जली,
आई दिल्ली की नगरिया में हरियाने की लली,
छाई दिल्ली की नगरिया पर हरियाने की लली।

## मालिन बीकानेर की—

(बीकानेरी मजदूरिनियों से सुनी एक लोक-धुन के आधार पर)

*'लाई हूँ फूलों का हास, लोगी मोल, लोगी मोल !'*—पंत

फुलमाला ले लो,
लाई है मालिन बीकानेर की।
मालिन बीकानेर की।

बाहर-बाहर बालू-बालू,
भीतर-भीतर बाग है,
बाग-बाग में हर-हर बिरवे
धन्य हमारा भाग है;
फूल-फूल पर भौंरा, डाली-डाली कोयल टेरती।
फुलमाला ले लो,
लाई है मालिन बीकानेर की।
मालिन बीकानेर की।

धवलपुरी का पक्का धागा,
सूजी जैसलमेर की,
झीनी-बीनी रंग-बिरंगी

डलिया है अजमेर की;
कलियाँ डूँगरपुर, बूँदी की, अलवर की, अंबेर की।
फुलमाला ले लो,
लाई है मालिन बीकानेर की।
मालिन बीकानेर की।

ओढ़नी आधा अंबर ढक ले
ऐसी है चित्तौर की,
चोटी है नागौर नगर की,
चोली रनथंभौर की;
घँघरी आधी धरती ढकती है मेवाड़ो घेर की।
फुलमाला ले लो,
लाई है मालिन बीकानेर की।
मालिन बीकानेर की।

ऐसी लंबी माल कि प्रीतम-
प्यारी पहनें साथ में;
ऐसी छोटी माल कि कंगन
बाँधें दोनों हाथ में,
पल भर में कलियाँ कुम्हलातीं द्वार खड़ी है देर की।
फुलमाला ले लो,
लाई है मालिन बीकानेर की।
मालिन बीकानेर की।

एक टका धागे की क़ीमत
पाँच टके हैं फूल की,
तुमने मेरी क़ीमत पूछी ?—
भोले, तुमने भूल की।
लाख टके की बोली मेरी ! —दुनिया है अंधेर की !
फुलमाला ले लो,
लाई है मालिन बीकानेर की।
मालिन बीकानेर की।
सुहागिन बीकानेर की—

## बीकानेर का सावन

(बीकानेरी मज़दूरिनियों से सुनी एक लोक-धुन पर आधारित)

बिताऊँगा मैं अबके तो सावन बीकानेर में।
जी, सावन बीकानेर में।

कितने दिन मुंबई बिताए,
कितने दिन मद्रास में,
कितने दिन दिलदार नगर में,
कितने, दिल्ली ख़ास में;
कितने दिन डहका कलकत्ते में पैसे के फेर में।
बिताऊँगा मैं अबके तो सावन बीकानेर में।
जी, सावन बीकानेर में।

जो आ जाएँ पूनम दैया
अपने देहरादून से,
भूखन भैया और कन्हैया
राँची से, रंगून से!
सुना कि होंगे अबके तो मन-भावन बीकानेर में।

बिताऊँगा मैं अबके तो सावन बीकानेर में।
जी, सावन बीकानेर में।

बादल काजल छाए, मोती
बरसाएगा बाद में,
उजली[1] के आँसू गिरते हों
ज्यों जेठवा की याद में,
मरकत बनकर जो फूटेंगे करकट के भी ढेर में।
बिताऊँगा मैं अबके तो सावन बीकानेर में।
जी, सावन बीकानेर में।

पानी खाए, पन्ना उगले,
राजस्थानी रेत है;
मूंग बिखेरे, मूंगा जोड़े
में गहरा संकेत है;
हर बेले में हीरा फूलेगा, पुखराज कनेर में।
बिताऊँगा में अबके तो सावन बीकानेर में।
जी, सावन बीकानेर में।

आएगी जब तीज लगेगा
मेला रँग - रस- गान का,
देखूं, क्या आदर होता है
दो दिन के मेहमान का;—

---

१. उजली और जेठवा : राजस्थान के लैला-मजनूं; पर मजनूं की भावना यहाँ उजली में है, जेठवा निर्मोही है।

फेनी तो फूली होती है
छोटू-मोटू जोशी की,
रसगुल्ला रसगर होता है
गोगर की दूकान का—
देख छबीली, डाल न देना दोल कटीली बेर में।
बिताऊँगा मैं अबके तो सावन बीकानेर में।
जी, सावन बीकानेर में।

## छोड़नेवाली नहीं

(बीकानेरी मज़दूरिनियों से सुनी एक लोक-धुन पर आधारित)

मैं ब्याही आई ; लाई-भगाई नहीं यार की।
भगाई नहीं यार की।

दो बर्तन जब साथ रहेंगे
कभी-कभी टकराएँगे,
भले कभी दिन आएँगे तो
बुरे कभी दिन जाएँगे;
पौड़ी-ड्योढ़ी सीमा होती आँगन की तकरार की।
मैं ब्याही आई ; लाई-भगाई नहीं यार की।
भगाई नहीं यार की।

जोड़ा-तोड़ी, तोड़ा-जोड़ी
करनी ओछी रीत है,
मेरी तो मेरे साजन की
जनम-जनम की प्रीत है,
अलग करेगा हमको, हिम्मत देखूंगी संसार की।

मैं ब्याही आई; लाई-भगाई नहीं यार की।
भगाई नहीं यार की।

संग-संग साजी दीवाली,
संग-संग में फाग की,
रेखा मिलकर एक हुई है
हम दोनों के भाग की,
एक कहानी, एक निशानी है आँसू की धार की।
मैं ब्याही आई ; लाई-भगाई नहीं यार की।
भगाई नहीं यार की।

सुख भोगा है साथ, सहूँगी
दुख भी उनके साथ में,
दुनिया छोड़े, हाथ रहेगा
मेरा उनके हाथ में;
जंगल में भी मंगल होगा, जो मरजी करतार की।
मैं ब्याही आई; लाई-भगाई नहीं यार की।
भगाई नहीं यार की।

मेहनत ऐसी चीज़ कि निकले
तेल छलाछल रेत में,
आशा घर में दीप जलाए,
सपना खेले खेत में;
ठेंग मुझे परवाह नहीं है राजा, साहूकार की।
मैं ब्याही आई ; लाई-भगाई नहीं यार की।
भगाई नहीं यार की।

## रुपैया

(ढोलक पर सहगान के लिए : उत्तर प्रदेश की एक लोक-धुन पर आधारित)

आज महँगा है, सैंयाँ, रुपैया।
रोटी न महँगी है,
लहँगा न महँगा,
महँगा है, सैंयाँ, रुपैया।
आज महँगा है, सैंयाँ, रुपैया।

बेटी न प्यारी है,
बेटा न प्यारा,
प्यारा है, सैंयाँ, रुपैया।
मगर महँगा है, सैंयाँ, रुपैया।
नाता न साथी है,
रिश्ता न साथी,
साथी है, सैंयाँ, रुपैया।
मगर महँगा है, सैंयाँ, रुपैया।

गाना न मीठा,
बजाना न मीठा,

मीठा है, सैंयाँ, रुपैया।
मगर महँगा है, सैंयाँ, रुपैया।

गाँधी न नेता,
जवाहर न नेता,
नेता है, सैंयाँ, रुपैया।
मगर महँगा है, सैंयाँ, रुपैया।
दुनिया न सच्ची है,
दीन नहीं सच्चा,
सच्चा है, सैंयाँ, रुपैया।
मगर महँगा है, सैंयाँ, रुपैया।
आज महँगा है, सैंयाँ, रुपैया।

## वर्षा ऽ मंगल

*'सखि कारी घटा बरसै बरसाने पै गोरी घटा नँद गाँव पै री'*—ठाकुर

(मंच गान)

[साइक्लोरामा पर काले बादल छाए हैं : बीच-बीच में बिजली चमकती है और गड़गड़ाहट का शब्द होता है।

मंच पर एक ओर क्षीणकाय सात पुरुषों की पंक्ति है, दूसरी ओर सात स्त्रियों की। दोनों के बीच में एक युगल—पुरुषों की पंक्ति की ओर स्त्री, स्त्रियों की पंक्ति की ओर पुरुष। पुरुषों ने देहाती ढंग की टूनी रंग की पगड़ी बाँधी है, जिसका लंबा पुछल्ला सामने छाती पर दाहिनी तरफ़ लटक रहा है, उनके कुरते और धोती का रंग सफ़ेद है। स्त्रियों ने टूनी रंग की साड़ी पहनी है, जिसका पल्लू बाएँ कंधे से पीछे की ओर लटक रहा है; उनकी आधी बाँह की कुरती सफ़ेद रंग की है; उनके शरीर पर कोई आभूषण नहीं हैं। रंग सूखेपन और जलन के प्रतीक हैं।

पंक्तियाँ बोलते समय लोग आकाश की ओर गर्दन उठाते हैं। बाद को सामने देखते हैं।]

**पुरुष पंक्ति**
गोरा बादल !

**स्त्री पंक्ति**
गोरा बादल !

**दोनों पंक्ति**
गोरा बादल !

**युगल**

गोरा बादल ते बे-बरसे चला गया ;
क्या काला बादल भी बे-बरसे जाएगा ?

**पुरुष पंक्ति**

बहुत दिनों से
अम्बर प्यासा !

**स्त्री पंक्ति**

बहुत दिनों से
धरती प्यासी !

**दोनों पंक्ति**

बहुत दिनों से
घिरी उदासी !

**युगल**

गोरा बादल तो तरसाकर चला गया ;
क्या काला बादल भी जग को तरसाएगा ?

**पुरुष पंक्ति**

गोरा बादल !

**स्त्री पंक्ति**

काला बादल !

**दोनों पंक्ति**

गोरा बादल !
काला बादल !

**युगल (पुरुष)**

गोरा बादल उठ पच्छिम से आया था—
गरज-तरज कर फिर पच्छिम को चला गया।

**युगल (स्त्री)**

काला बादल उठ पूरब से आया है—
कड़क रहा है, चमक रहा है, छाया है।

**पुरुष पंक्ति**

आँखों को
धोखा होता है !

**स्त्री पंक्ति**

जाग रहा है
या सोता है ?

**युगल (पुरुष)**

गोरा बादल गया नहीं था पच्छिम को,
रंग बदलकर अब भी ऊपर छाया है।

**युगल (स्त्री)**

गोरा बादल चला गया हो तो भी क्या,
काले बादल का सब ढंग उसी का और पराया है।

**पुरुष पंक्ति**

इससे जल की
आशा, धोखा !

**स्त्री पंक्ति**

उलटा इसने
जल को सोखा !

**युगल**

कैसा अचरज !
कैसा धोखा !
छूंछी धरती,
भरा हुआ बादल का कोखा।

**पुरुष पंक्ति**

गोरा बादल !

**स्त्री पंक्ति**

काला बादल !

**दोनों पंक्ति**

काला बादल !
गोरा बादल !

**युगल (पुरुष)**

गोरा बादल तो बे-बरसे चला गया ;
क्या काला बादल भी बे-बरसे जाएगा ?

**युगल (स्त्री)**

गोरा बादल तो तरसा कर चला गया;
क्या काला बादल भी जग को तरसाएगा ?

**पुरुष पंक्ति**
गोरा बादल !

**स्त्री पंक्ति**
काला बादल !

**युगल**

पूरब का, पच्छिम का बादल,
उत्तर का, दक्खिन का बादल–
कोई बादल नहीं बरसता।
वसुंधरा के
कंठ-हृदय की प्यास न हरता।
वसुधा-तल का
जन-मन-संकट-त्रास न हरता।
व्यर्थ प्रतीक्षा ! धिक् प्रत्याशा ! धिक् परवशता !
उसे कहें क्या कड़क - चमक जो नहीं बरसता !

**पुरुष पंक्ति**
गोरा बादल !
काला बादल !

**स्त्री पंक्ति**
एक तरह का
सारा बादल !

[बिजली चमकती है : गड़गड़ाहट का शब्द होता है। सब लोग ऊपर की ओर देखते हैं। बूंद न गिरने से फिर निराश हो सिर झुका लेते हैं।]

**युगल**

जीवित आँखों की, कानों की आशा रखता,
प्यासा रखता! प्यासा रखता! प्यासा रखता!

| **पुरुष पंक्ति** | **स्त्री पंक्ति** |
|---|---|
| गोरा बादल | काला बादल |
| प्यासा रखता! | प्यासा रखता! |

[बारी-बारी से दोनों पंक्तियाँ मंद-मंदतर स्वर में दुहराती हैं।
फिर बिजली चमकती है, बादल गरजता है। दूर पर
कोई व्यंग्य भरे स्वर में गाता है "सखि कारी घटा
बरसै बरसाने पै गोरी घटा नँद गाँव पै री।"
.....पर्दा गिरता है।]

## भारत के यौवन का गीत

लिए मशाल,
लिए मशाल,
अपने-अपने घर से निकले
हाथों में हम लिए मशाल—
लिए मशाल !
लिए मशाल !

उत्तर दक्षिण को जानेगा,
पच्छिम पूरब पहचानेगा,
संगम की महिमा मानेगा,
टूट रहा है तम का जाल—
लिए मशाल !
लिए मशाल !

अपने-अपने घर से निकले
हाथों में हम लिए मशाल—
लिए मशाल !
लिए मशाल !

हम अपना दल पहचानेंगे,
हम अपना बल पहचानेंगे,
अपनी मंज़िल पहचानेंगे,
पहचानेंगे अपनी ज्वाल—
लिए मशाल !
लिए मशाल !

अपने-अपने घर से निकले
हाथों में हम लिए मशाल—
लिए मशाल !
लिए मशाल !

रौंदेंगे मरु, वन मर्देंगे,
चट्टानों को चूर करेंगे,
पर्वत के सिर पाँव धरेंगे,
कब रुकती यौवन की चाल ?---
लिए मशाल !
लिए मशाल !

अपने-अपने घर से निकले
हाथों में हम लिए मशाल–
लिए मशाल !
लिए मशाल !
कौन रहेगा थककर पीछे,
कौन मरेगा गिरकर नीचे,

अगर बढ़ेगा, अगर उठेगा, अगर जिएगा
अपना भारतवर्ष विशाल—
लिए मशाल!
लिए मशाल!

अपने-अपने घर से निकले
हाथों में हम लिए मशाल—
लिए मशाल!
लिए मशाल!

## भू-पुत्रों को चुनौती

(मंच गान)

[साइक्लोरामा पर लपटों का रंग है जो गर्मी की कड़ी धूप का प्रतीक है। ऊपर के दाएँ-बाएँ कोनों से एक साथ बीच-बीच में चमकते तीरों की-सी बौछारें होती हैं जो किरणों की तीक्ष्णता का बोध कराने के साथ ही ऊपर से किसी प्रेरणा का भी संकेत करती है।

मंच पर दोनों ओर, आड़ी पंक्ति में खड़े पाँच-पाँच सुपुष्ट पुरुषों की पंक्ति है। दोनों के बीच में वैसे ही दो पुरुष काँधे से काँधा मिलाकर खड़े हैं; उनके सामने दो हल हैं जिनके हत्थों पर हाथ रक्खे, एक पाँव पीछे कर, वे कुछ आगे की ओर झुके हुए हैं। हल का फल थोड़ा-थोड़ा ज़मीन में धँसा है।

पंक्तियाँ बोलते समय वे मुख-हाथों से उपयुक्त मुद्रा दिखलाते हैं।

पुरुषों के सिर पर देहाती ढंग की सफ़ेद पगड़ियाँ हैं—कसी; शोभा के लिए इतनी नहीं, जितनी दृढ़ता की प्रतीक-सी लगती; उनमें कलँगी या पुछल्ला नहीं है। बदन उनके नंगे हैं; वे सफ़ेद दोलंगी धोतियाँ पहने हैं जो घुटने से नीचे नहीं जातीं।]

**दाहिनी पंक्ति**

हल के हत्थे—

**बाईं पंक्ति**

हल के हत्थे—

**दोनों पुरुष**

हाथ न हटने पाए हल के हत्थे से

धरा कड़ी है !
फाल न हटने पाए गिट्टी-मिट्टी से
धरा कड़ी है !

**दाहिनी पंक्ति**
धरा कड़ी है !

**बाईं पंक्ति**
धरा कड़ी है !

**दोनों पुरुष**
ओरे भाई, पोंछ पसीना मत्थे से
धूप कड़ी है !
धूप बड़ी है !

**दाहिनी पंक्ति**
हाथ न हटने पाए हल के हत्थे से
धरा कड़ी है !

**बाईं पंक्ति**
फाल न हटने पाए गिट्टी-मिट्टी से
धरा कड़ी है !

**दोनों पुरुष**
पुरखों ने यह कथा सुनाई,
कभी नरम थी धरती माई !
सहज, सरल थी, सीधी, भोली,
धन-अन से भरती थी झोली।
धरती माई !
धरती माई !

**दाहिनी पंक्ति**
फिर कैसे यह नौबत आई ?

**बाईं पंक्ति**
फिर कैसे यह नौबत आई ?

**दोनों पुरुष**
(अपने-अपने हाथ से अपना माथा दो बार छूते हैं।)

**दाहिनी पंक्ति** **बाईं पंक्ति**

क़िस्मत को मत कोसो भाई ! क़िस्मत को मत कोसो भाई !

**दोनों पुरुष**

पुरखों ने यह कथा सुनाई,
अलटन आई, पलटन आई,
इस धरती की हुई पिटाई,
खूब खुँदाई !
अँखुए - अँखुए के मुँह टूटे,
गए धरा में फिर - फिर कूटे,
दिखे न सपने में भी बूटे।
बड़ी उदासी
भू पर छाई,
बड़ी दुखाई
धरती माई !
धरती माई !

**दाहिनी पंक्ति** **बाईं पंक्ति**

क्या फिर बादल कभी न बरसा ? क्या न हुई फिर धरती सरसा ?

**दोनों पुरुष**

आदल आया, बादल आया
बादल ने सोना बरसाया !
धरती ने मोती छितराया !

**दाहिनी पंक्ति** **बाईं पंक्ति**

कहाँ समाया ? कहाँ समाया ?

**दोनों पुरुष**

सोना पहुँचा—मोती पहुँचा
पूँजीपति के
तहखाने को।
धरती फिर भी
तरस रही दाने-दाने को।
खाती उसको भूख रही है,
भीतर-भीतर सूख रही है।
बड़ी उदासी
भू पर छाई,
बड़ी दुखाई
धरती माई!
धरती माई!

**दाहिनी पंक्ति**

पूँजीपति से कौन बचाए?
कौन बचाए?
कौन बचाए?
कौन बचाए?

**बाईं पंक्ति**

शोषित जनता आगे आए।
कदम बढ़ाए,
शीश उठाए,
ज़ोर लगाए!

**दोनों पुरुष**

श्रम के
फल के
बीच खड़ी
दीवार हटाए,

उसे गिराए;
जोते-बोए
जो सो खाए।
तब यह सारी धरा अघाए,
तब फिर यह धन-धान लुटाए,
गया हुआ युग वापस आए।

**दाहिनी पंक्ति**
देर नहीं है, देर नहीं है !

**बाईं पंक्ति**
देरी हो, अंधेर नहीं है !

**दाहिनी पंक्ति**
हल के हत्थे—

**बाईं पंक्ति**
हल के हत्थे—

**दोनों पुरुष**
हाथ न हटने पाए हल के हत्थे से
धरा कड़ी हो,
धूप बड़ी हो,
धूप कड़ी हो !
श्रम के फल के बीच न कोई खानेवाली
शक्ति खड़ी हो !
भू-पुत्रों की उम्र बड़ी हो !
उम्र बड़ी हो !

**दाहिनी पंक्ति**
हल के हत्थे—

**बाईं पंक्ति**
हल के हत्थे—

(दाईं-बाईं पंक्तियाँ 'हल के हत्थे' मंद से मंदतर स्वर में दुहराती हैं और परदा गिरता है।)

## सत्य की हत्या

आज सत्य
असह्य इतना हो गया है
कान में सीसा गला
ढलवा सकेंगे,
सत्य सुनने को नहीं तैयार होंगे;
आँख पर पट्टी बँधा लेंगे,
निकलवा भी सकेंगे,
रहेंगे अंधे सदा को,
सत्य देखेंगे नहीं पर ;)
घोर विषधर सर्प,
लोहे की शलाका, गर्म, लाल,
पकड़ सकेंगे मुट्ठियों में,
उँगलियों से सत्य
छूने की नहीं हिम्मत करेंगे।
इसलिए चारों तरफ़ षड्यन्त्र है
उसके गले को घोंटने का,
या कि उसपर धूल-परदा डालने का,

या कि उसको खड़ा, ज़िंदा गाड़ने का।
किंतु वे अपनी सफलता पर न फूलें।
सत्य तो बहुरूपिया है।
सत्य को ज़िंदा अगर वे गाड़ देंगे,
पच न धरती से सकेगा,
फ़सल बनकर उगेगा,
जो अन्न खाएगा
बनेगा क्रांतिकारी।
सत्य पर गर धूल-परदा डाल देंगे,
वह हटाकर-फाड़कर के नग्न
रस्मी लाज को धक्का लगाएगा,
सभी का ध्यान आकर्षित करेगा।
गला घोंटेंगे अगर उसका
किसी कवि-कंठ में वह छटपटाएगा,
निकलकर, गीत बनकर
हृदय में हलचल मचाएगा।

## सीधी उँगली

*'सूधी अँगुरि न निकसै घीऊ'*—जायसी

चले आओ, चले आओ,
जानता हूँ हाथ ख़ाली है तुम्हारा,
हथेली खुरदुरी, रूखी
औ' गदोरी में न गड्ढा।

आज घी की कमी दुनिया में नहीं है—
औ' न उससे अधिक गुणकर डालडा की—
फ़ैक्ट्री पर फ़ैक्ट्रियाँ हैं—
इस अहिंसक देश में यदि
मांस-घी पर शाक-घी को
दी गई तरजीह तो आश्चर्य क्या है?—
किंतु घी की इस प्रकट बहती नदी में
या कि उसकी बाढ़ में—घृत-सिंधु में—
वर्णित पुराणों में प्रदर्शित नए युग में—
बिंदु से वंचित अगर तुम रह गए हो,
पूर्वजों का गोकि था उपदेश

ऋण लेकर पियो घी,
तो यही कारण
कि सीधी उँगलियाँ सारी तुम्हारी,
जो कि झुककर हुक न बनतीं,
जो कि मुड़ टेढ़ी न होतीं,—
एक तो अपवाद होती—
जबकि पाँचों या दसों के हैं सदुपयोगी चतुर्दिक ;
और, मेरे बंधु, सीधी उँगलियों से
घी निकलता नहीं,
सारे अनुभवी बतला गए हैं ।

किंतु फिर भी चले आओ,
तुम हमारे काम के हो ।

तीन पोरों से लचीली उँगलियाँ
वरदान कितनी बड़ी थीं
चतुरा प्रकृति की !
किंतु युग के इस महा घृत-मोह ने
सबको विकृत-टेढ़ी बना
अभिशाप साबित कर दिया है ।
एक पीढ़ी लग रही विकलांग
लकवे से प्रताड़ित ।
लुप्त आज परम्परा है
बे-मुड़ी, बे-झुकी, सीधी उँगलियों की

कभी जिसने सहज अपने पर
टिका कर छत्र-गोवर्धन
गगन का गर्व-मद-मर्दन किया था।

तुम उसी की कड़ी कोई बच गए हो,
चले आओ, चले आओ।
तुम्हें गोवर्धन उठाने को
नहीं मैं कह रहा हूँ
किंतु केवल एक तुममें
शक्ति है निर्भीक-निश्चल
ख़ास तुम संकेत कर कह दो
कि देखो—
"तुम पतित हो,
तुम ग़लत पथ के प्रदर्शक,
तुम नक़लची दूसरों के,
तुम घुरी से हीन, अवसर की सजावट,
तुम प्रवंचक-धर्म, दोहक,
स्वार्थ तुम साकार, पैसाकार,
तुम शोषक प्रजा के,
तुम नपुंसक सब तरह का जो कि
अत्याचार, भ्रष्टाचार, छद्माचार सहते।"

(आज टेढ़े से नहीं शंका रही है,
क्योंकि सब हैं वक्र

कोई ग्रसे किसको—किसे पकड़े ?
किंतु ऐसी वक्रता के चक्र या कि कुचक्र में
शर-शब्द-बेधी
एक उँगली उठेगी सीधी अगर
दुनिया डरेगी, थरथराएगी, समझ लो,
बात यह मेरी कही है।
इसलिए मैं बार-बार पुकारता हूँ,
चले आओ, चले आओ,
और जो झुकना न मुड़ना
न ही हटना और हिलना जानती,
उँगली उठाओ।

## विष-फल

जिसे छूते ही
उँगलियाँ चिर गई,
हर पोर भीगी रक्त से,
लथपथ हथेली हो गई,
जैसे कि हत्या तुरत कर डाली गई हो,
झनझनाकर दर्द नस-नस चढ़ गया,
सब देह व्यापा,
अगर इससे मुँह लगाता
तो न जाने, राम, क्या परिणाम होता।

देखता हूँ पत्र
कितने घने,
कितने हरे,
कितने चीकने हैं।
रीढ़, पसली, नसों का-सा
श्वेत, झीना तंतु-जाल बिछा हुआ है,
हरित पट पर श्वेत-चंदन-अक्षरों से,
लग रहा जैसे,

ऋचाओं को अलग कर,
वेद-मंत्र लिखा हुआ हो।

प्रमुख शाखा है
कि श्रुति-शाखा सरीखी
ऊर्ध्वमुख, सीधी तनी है
औ' प्रशाखाएँ उसी से निकल
उसको ही सहारा दे रही हैं।
तना सुदृढ़, सुपुष्ट, दीर्घ खड़ा
कि जैसे जाति का विश्वास कोई बड़ा,
निश्चल-शांत-शून्य समाधि में हो,
और यह फल !

कल्पतरु-सा रूप-वर्णाकार लेकर
क्या खड़ा है वृक्ष यह
संसार भर से सरलता से
घाट करने में सफल हो ?
काट डालूँ,
चाहता तो जी यही,
लेकर कुल्हाड़ा,
किंतु ऐसे बेहया कटकर न मरते,
फिर उभरते, फिर छछड़ते,
और ज़्यादा घने होकर फूलते-फलते,
जगत की आँख को धोखा बराबर दिए जाने में

सफल जीवन समझते।

जिस तरह फैला हुआ यह
वह बताता है कि इसको
कम नहीं काटा गया है
पर उसे हर बार
जीवन, आयु-बल बाँटा गया है।

नील-निर्मल गगन,
सूर्यातप समुज्ज्वल,
पवन, आशीर्वचन मानो स्वर्ग का हो,
अमृतवर्षी जलद—
विष का बीज पोषित
गगन से होता नहीं है।

महि उलटकर
आज इसका मूल देखूंगा,
मुझे निश्चय,
वहीं पर स्रोत कोई
सड़ा, गंदा, बजबजाता जो कि जड़ चढ़
गुप्त गति से डालियों में दौड़
विष के फल फलाता,
जिस तरह अस्वस्थ, रुग्ण परम्परा हो
जातियों को विकृत औ' विद्रूप करती;
और कोई अग्नि बाण चला सका तो

उसे सोखूंगा, न छोड़ूंगा,
महि उलटकर आज तरु का मूल देखूंगा,
प्रकृति की बड़ी कोई भूल देखूंगा।

## सहज-मानव

देवता हैं सहज अंतर्धान,
दानव छिपे रहने के लिए
सौ जतन, सौ षड्यन्त्र करते,
किंतु यह चालाक मानव
दानवत्व सहज पचा,
कर आत्मसात स्वभाव से ही,
सौ जतन से ओढ़कर देवत्व,
या देवत्व का चेहरा लगाकर
वीर-विजयी की धजा से
घूमना बाज़ार में,
फ़ोटो खिंचा
अखबार के संसार में
विख्यात होना जानता है।
सिद्धि पा ले,
सिद्ध और प्रसिद्ध समझा जाय लेकिन
सिद्ध तो वह यही करता है
कि अब भी मान्यता देवत्व की है,

नग्न दानवता विनिन्दित, घृणित, लज्जित।

आज विघटित मूल्य के खँडहर-समय में
यह बची आस्था नहीं है कम भयंकर।
ओ नक़लची देवताओ—
लुटी, उजड़ी हुई मानवता
तुम्हारा दरस पाकर ही नहीं संतुष्ट होगी,
परस को भी, पकड़ने को भी तुम्हें,
बाँहें बढ़ाएगी,
भुजाओं में जकड़ने के लिए बेचैन होगी।
टूटकर चेहरा गिरेगा,
गिरेगी ओढ़ी हुई चादर जतन से,
छिप न दानवता सकेगी।

चतुर मानव,
देवता बन घूमना है
आज ख़तरे से न ख़ाली,
और दानव बन अगर तू घूम सकता
तो न धरता धज निराली।
सहज मानव बन सहज तू,
आज मानवता उसी की खोज में है।
देवता हैं सुखी अंतर्धान रहकर,
दैत्य-दानव छिपे,
भोले-दुखी मानव में

सहज मानव बने रहकर विचर,
संवेदना दे और ले
उससे सुलहकर।

## शहीद की माँ

इसी घर से
एक दिन
शहीद का जनाज़ा निकला था,
तिरंगे में लिपटा,
हज़ारों की भीड़ में।
काँधा देने की होड़ में
सैकड़ों के कुर्ते फटे थे,
पुट्ठे छिले थे।
भारतमाता की जय,
इन्क़लाब ज़िन्दाबाद,
अंग्रेज़ी सरकार मुर्दाबाद
के नारों में शहीद की माँ का रोदन
डूब गया था।
उसके आँसुओं की लड़ी
फूल, खील, बताशों की झड़ी में
छिप गई थी,
जनता चिल्लाई थी—

तेरा नाम सोने के अक्षरों में लिखा जाएगा।
गली किसी गर्व से
दिप गई थी।

इसी घर से
तीस बरस बाद
शहीद की माँ का जनाज़ा निकला है,
तिरंगे में लिपटा नहीं,
(क्योंकि वह ख़ास-ख़ास
लोगों के लिए विहित है।)
केवल चार काँधों पर,
राम नाम सत्य है,
गोपाल नाम सत्य है
के पुराने नारों पर;
चर्चा है, बुढ़िया बेसहारा थी,
जीवन के कष्टों से मुक्त हुई,
गली किसी राहत से
छुई-छुई।

## राष्ट्र-पिता के समक्ष

हे महात्मन्,
हे महारथ,
हे महा सम्राट !
हो अपराध मेरा क्षम्य,
मैं तेरे महा प्रस्थान की कर याद,
या प्रति दिवस तेरा
मर्मवेधी, दिल-कुरेदी, पीर-तिक्त
अभाव अनुभव कर नहीं
तेरे समक्ष खड़ा हुआ हूँ ।
धार कर तन—
राम को क्या, कृष्ण को क्या—
मृत्तिका का ऋण सभी को
एक दिन होता चुकाना;
मृत्यु का कारण, बहाना ।
और मानव-धर्म है
अनिवार्य को सहना-सहाना ।

औ' न मैं इसलिए आया हूँ
कि तेरे त्याग, तप, निःस्वार्थ सेवा,
सल्तनत को पलटनेवाले पराक्रम,
दंभ-दर्प विचूर्णकारी शूरता औ'
शहनशाही दिल, तबीयत, ठाठ के पश्चात
अब युग भुक्खड़ों, बौनों, नक़लची बानरों का
आ गया है;
शत्रु चारों ओर से ललकारते हैं,
बीच, अपने भाग-टुकड़ों को
मुसलसल उछल-कूद मची हुई है;
त्याग-तप की हुंडियाँ भुनकर समाप्तप्राय
भ्रष्टाचार, हथकंडे, खुशामद, बँदरभपकी
की कमाई खा रही हैं।

अस्त जब मार्तण्ड होता,
अंधकार पसारता है पाँव अपने,
टिमटिमाते कुटिल, खल-खद्योत दल,
आत्मप्रचारक गाल-गाल शृगाल
कहते घूमते हैं यह हुआ, वह हुआ,
ऐसा हुआ, वैसा हुआ, कैसा हुआ !
शत-शत, इसी ढब की, कालिमा की
छद्म छायाएँ चतुर्दिक विचरती हैं।

प्रखर-उज्ज्वल दिवस के पश्चात

काली रात को तैयार रहना चाहिए ही।
रात को जो रात्र करके जानता है,
वह नहीं अज्ञान-भ्रम-तम से घिरा है,
प्रात उसकी इंतज़ारी में खड़ा है।
जब तिमिर में काल चक्र धँसे तभी तो
जातियों के धैर्य की होती परीक्षा !

किंतु आत्म प्रवंचना से
जातियों को उबरते
इतिहास ने देखा नहीं है।

और इसमें तू सहायक
किसलिए हो ?—
हे महात्मन्,
हे महारथ,
हे महा सम्राट !
हो अपराध मेरा क्षम्य,
इतना पूछने को सिर्फ़
हाज़िर सामने तेरे हुआ हूँ।
तू धरा से कूच जब करने लगा था,
छोड़ क्यों आया वहाँ तू
रजत-हीरक मुकुट,
खलदल कवच,
आयुध, मंत्र से अभिषिक्त,
माला औ' खड़ाऊँ ?

उस खड़ाऊँ में अँगूठा डाल देना
तो सरल था, किंतु वह उठती नहीं है,
पहननेवाला कभी चलता न दिखता,
बस 'खड़ा हूँ' कह रहा है।
और माला बन गई है माल औ' जनजाल
जिसमें फँसे रहने में कुशलता दीख पड़ती,
निकलना तो कूटनीतिक हार होगी,
मुकुट में सिर को बिठाने के लिए
सिर को फुलाया जा रहा है—
ठीक बस वह क़फ़न बाँधे शीश पर था—
किंतु हौदे की तरह वह ढकढकाता,
शीश पर थिर हो न पाता।
और खलदल कवच तन पर
इस तरह लगता कि जैसे
नाग-त्यक्ता केंचुली में
केंचुआ बरसात का पैठा हुआ है;
और सूक्ष्मायुध, कि जिनसे
तोप का मुँह बंद होता था,
बवंडर उभरता था, शांत होता था,
वही हैं, किंतु उनकी शक्ति ग़ायब हो गई है;
ले उन्हीं को हाथ में क्विक्ज़ोट[1] कुछ

१. स्पेन के प्रसिद्ध लेखक सरवैंटीज़ (१५४७-१६१६) के विश्वविख्यात ग्रंथ 'डान क्विक्ज़ोट' का नायक। मेरे निबन्ध-संग्रह 'नये-पुराने झरोखे' में इस पर एक लेख है।

प्रतिदिन घुमाते-घूमते
अख़बार के ऊपर चलाते
जो कि प्रात: काल उनके वार से मर
शाम को पंसारियों के काम आते;
और अपने हाथ अपनी पीठ को वे थपथपाते !

मैं कहूँगा तो नहीं कोई सुनेगा,
अनुकरण होता नहीं है सफल
प्रतिभा का कभी भी !
और गो संदेह मुझको है कि तेरी
भी सुनेगा कौन, फिर भी
हो सके तो देख ले करके तुमुल आकाशवाणी :
"मत करो उपहास मेरा और मेरे आयुधों का
और अपना और मेरे देश के भोले जनों का !
तीर मेरे हाथ का तुक्का तुम्हारे हाथ में है,
माँगता प्रत्येक युग अपना नवायुध;
उसे नव संसार, नवयुग दृष्टि से ढालो,
जतन कर नवल बल, तप, साधना की
आग में डालो, निकालो, धार दो, लो;
त्रिपुर-गय संहारकारक शंभु अजगव
भी नहीं था राम के कुछ काम का,
इससे उन्होंने तोड़ उसको
नए धनु से कर नया टंकार
नूतन दानवों का था किया संहार,

अर्जित नया जय-जयकार।
जीवित व्यक्ति, जीवित जाति,
जीवित राष्ट्र का लक्षण यही शृंगार।"

## आज़ादी के चौदह वर्ष

देश के बेपढ़े, भोले, दीन लोगो !
आज चौदह साल से आज़ाद हो तुम।
कुछ समय की माप का आभास तुमको ?
नहीं; तो तुम इस तरह समझो
कि जिस दिन तुम हुए स्वाधीन उस दिन
राम यदि मुनि-वेश कर, शर-चाप धर
वन गए होते,
साथ श्री, वैभव, विजय, ध्रुव नीति लेकर
आज उनके लौटने का दिवस होता !
मर चुके होते विराध, कबंध,
खरदूषण, त्रिशिर, मारीच खल,
दुर्बन्धु बानर बालि,
और सवंश दानवराज रावण;
मिट चुकी होती निशानी निशिचरों की,
कट चुका होता निराशा का अँधेरा,
छट चुका होता अनिश्चय का कुहासा,
धुल चुका होता धरा का पाप संकुल,

मुक्त हो चुकता समय
भय की, अनय की शृंखला से,
राम-राज्य प्रभात होता !

पर पिता-आदेश की अवहेलना कर
(या भरत की प्रार्थना सुन)
राम यदि गद्दी सँभाल अवधपुरी में बैठ जाते,
राम ही थे,
अवध को वे व्यवस्थित, सज्जित, समृद्ध अवश्य करते,
किंतु सारे देश का क्या हाल होता।
वह विराध विरोध के विष दंत बोता,
दैत्य जिनसे फूट लोगों को लड़ाकर
शक्ति उनकी क्षीण करते।
वह कबंध कि आँख जिसकी पेट पर है,
देश का जन-धन हड़पकर नित्य बढ़ता,
बालि भ्रष्टाचारियों का प्रमुख बनता,
और वह रावण कि जिसके पाप की मिति नहीं
अपने अनुचरों के, वंशजों के संग
खुलकर खेलता, भोले-भलों का रक्त पीता,
अस्थियाँ उनकी पड़ी चीत्कारतीं
कोई न, लेकिन, कान करता।

देश के अनपढ़, गँवार, गरीब लोगो !
आज चौदह साल से आज़ाद हो तुम;

देश के चौदह बरस कम नहीं होते;
और इतना सोचने की तो तुम्हें स्वाधीनता है ही
कि अपने राम ने उस दिन किया क्या ?
देश में चारों तरफ़ देखो, बताओ।

## ध्वस्त पोत

बंद होना चाहिए
यह तुमुल कोलाहल,
करुण चीत्कार, हाय-पुकार,
कर्कश-क्रुद्ध-स्वर आरोप
बूढ़े नाविकों पर,
श्वेतकेशी कर्णधारों पर,
कि अपनी अबलता से, ग़ल्तियों से,
या कि गुप्त स्वार्थ प्रेरित,
तीर्थयात्रा पर चला यह पोत
लाकर के उन्होंने इस विकट चट्टान से
टकरा दिया है।
यान अब है खंड-खंड विभक्त, करवट,
सूत्र सब टूटे हुए,
हर जोड़ झूठा, चूल ढीली,
नभमुखी मस्तूल नतमुख, भूमि-लुंठित।
उलटकर सब ठाठ-काठ-कबार-संपद-भार
कुछ जलमग्न, कुछ जलतरित, कुछ तट पर

विशृंखल, विकृत, बिखरा, बिछा, पटका-सा, फिका-सा।
मरे, घायल, चोट खाए, दबे, कुचले और डूबों की न संख्या।
बचे, अस्त-व्यस्त, घबराए हुओं का
दिक्-ध्वनित क्रंदन !—
इसी के बीच लोलुप स्वार्थपरता
दया, मरजादा, हया पर डाल परदा,
धिक्, लगी है लूट, नोच, खसोट में भी।

इस निरात्म प्रवृत्ति की करनी उपेक्षा ही उचित है।
पूर्णता किसमें निहित है ?
स्वल्प ये कृमि-कीट कितना काठ खाएँगे-पचाएँगे !
कभी क्या छू सकेंगे,
आत्मवानो, वह अमर संपद कि जिससे
यह वृहद् जलयान होकर पुनर्निर्मित, नव सुसज्जित
नव तरंगों पर नए विश्वास से गतिमान होगा।

किंतु पहले
बंद होना चाहिए यह तुमुल कोलाहल,
करुण आह्वान, कर्कश-क्रुद्ध क्रंदन।
पूछता हूँ,
आदिहीन अतीत के ओ यात्रियो,
क्या आज पहली बार ऐसी ध्वंसकारी,
मर्मभेदी, दुर्द्धरा घटना घटी है ?
वीथियाँ इतिहास की ऐसी कथाओं से पटी हैं,
जो बताती हैं कि लहरों का निमंत्रण या चुनौती

तुम सदा स्वीकारते, ललकारते बढ़ते रहे हो।
सिर्फ़ चट्टानें नहीं,
दिक्काल तुमसे टक्करें लेकर हटे हैं,
और कितनी बार ?—वे जानें, बताएँ।
टूटकर फिर बने,
फिर-फिर डूबकर तुम तरे,
विष को घूंटकर अमरे रहे हो।

आज तुम इस छुद्र युग की चाल, छल से
विकल, निश्चल, हार बैठोगे, नहीं विश्वास मुझको।
मैं उसी संजीवनी से बोलता जिसके धनी तुम,
मृत्यु पर अन्तिम विजय के ध्रुव प्रणी तुम !

बीच की ये मंज़िलें हैं।
और यह घटना बड़े ही क्रांति और युगांतकारी
मोड़ की उद्घोषणा है।
क्रोध करना कर्णधारों पर निरर्थक;
वे थके, बूढ़े, पके, संघर्ष से ऊबे,
भुजाओं, कमर, कंधों को ज़रा आराम देना चाहते थे।
हम न हों अनुदार उनके प्रति ऋणी हम कम नहीं हैं।
साथ ही हम सोचने को भी विवश हैं,
काश, उनके लोचनों पर धुंध छा जाता न इतना
शाप की चट्टान में वरदान का नवद्वीप दिखता !
काश, वे यह जान पाते
मूल्य उनकी भूल, उनके स्वार्थ का

हमको चुकाना पड़ेगा कितने दिनों तक और कितना !
काश उनपर ही न हम दायित्व सारा छोड़ देते !
जो हुआ, होना वही था,
किंतु यह संकेत भी सुस्पष्ट ही है,
कर्णधारों-नाविकों के साथ अब
नेतृत्व-नेता का ज़माना लद चुका
अधिनायकत्व जहाज़ का जनगण करेंगे—तीर्थयात्री।

इसलिए इस अमर यात्रा के मुसाफ़िर, सब उठो फिर,
कमर बाँधो, साँस साधो;
समर जीवन का अभी अविजित पड़ा है;
तुम न थकने के लिए, आराम करने को बने हो,
कर्म, प्रतिक्षण कर्म, का वरदान या अभिशाप
तुम हो जन्म के ही साथ लाए;
मुक्ति अंतिम श्वास तक मिलनी नहीं है।
उठो, जो टूटा हुआ है उसे जोड़ो,—
एकता के सूत्र अब भी कम नहीं हैं;
जो फटा उसको मिलाओ,—
मेल की ताक़त बड़ी है;
छिद्र देखो, भरो,—
छिद्रान्वेष छोड़ो;
कार्य तत्परकर स्पर्धा करो
पर विद्वेष छोड़ो;
जो बिछा, बिखरा समेटो,

किंतु जो बेकार उससे आँख मोड़ो।
भाग्य लेटे का सदा लेटा रहा है,
जो खड़ा है भाग्य उसका उठ खड़ा है,
चल पड़ा जो भाग्य उसका चल पड़ा है—
ऋषि-वचन यह।
जो पड़ा है पोत करवट
कोटि कर बल दे उसे उत्तान कर दो,
मध्य उसके यह महा मस्तूल थापो,
सधा, सीधा, सिद्ध विधिवत—
"ऊर्ध्व दृग, सम पग" प्रगति का मंत्र अपने पूर्वजों का—
राष्ट्र-तन की रीढ़ जैसी,
आर्य-निष्ठा-यज्ञ की यह यष्टिका है—
ब्रह्म शर,
शिव लिंग,
विष्णु ध्वज अनवनत,
पुष्ट, ध्रुव-दृढ़, दीर्घ,
अजर, अमोघ, अक्षत और अच्युत।
पाल पर लिख दो प्रतिज्ञा पार्थ की;
शहतीर-सी डाँडें सँभालो,
फेन-मुख उद्धत तरंगों की अनी चापो;
करो उन पर अनवरत शासन, सतत श्रमशील,
आसन से न डोलो;
भर उमंगों से करो अभियान,
सागर चीरते आगे बढ़ो, आगे बढ़ो,

उत्कंठ गाते गान—

हम सदा जवान !
हम सदा जवान !
हम चले चुनौती बन के युग-जहान को,
औ' चुनौती बन के मौत को, मसान को,
हम चले लहर-लहर पे देते इम्तहान !
हम सदा जवान !
हम सदा जवान !
शक्ति मूर्तिमान !

## बुलबुल को आह्वान

प्राण-बुलबुल !
बहुत दिन से
तुम नहीं उद्यान में देखी गई हो,
बहुत दिन से पर तुम्हारे
डाल-फूलों पर नहीं हैं फुरफुराए,
चपल प्रतिपल दृग तुम्हारे
तृणावलि, तरु-पात पर चमके नहीं हैं,
औ' तुम्हारा स्वर मधुर मुखरित,
प्रतिध्वनि में मधुरतर,
गगन में गूंजा नहीं है ।
मौन-अंतर्धान हो तुम
प्राण-बुलबुल !

मानता हूँ,
जिस तरह पहले
बसंतागमन की उत्सुक प्रतीक्षा में,
महा पतझार में भी,

पवन मधुवन का विकल हो
डोलता था, डोलता अब
वह नहीं है।
मानता हूँ,
जिस तरह पहले
पुरानी डाल में भी,
नई टहनी की कहूँ क्या,
प्रस्फुरण होता नया था,
अब न होता।
लताएँ लोनी, लचीली, नव रसीली
सूख रूखी, सख्त, निर्मम
शृंखलाएँ बन गई हैं,
मान फूलों का नहीं है,
शान काँटों की निरंतर बढ़ रही है,
शाख शाखा से उपेक्षित,
फूल फल को कोसता,
फल फूल को अभिशाप देता,
बीज धरती गर्भ में सेती नहीं है,
निगल जाती,
बीज इतना दबा-कुचला है
कि अंकुर बन
धरा को फोड़ बाहर आ न पाता;
और गौरैया डरी-सी
चील के स्वर चीखती है।

बहे जब रस,
गंध बौराई फिरे,
फूलें कुसुम रंगीन,
पल्लव लहलहाए,
डाल डाली को झुलाए,
लता लहराती रहे,
तृण मुसकराएँ,
आँख अँखुए खोलते ही
प्यार का संसार देखें,
होनहार बहार देखें,
पवन में लय हो,
अभय आकाश में हो,
तब सुरीले गीत गाना
सरल, स्वाभाविक, सुकर है।

किंतु जब विपरीत सब कुछ हो
तभी तो गीत, प्रीति, प्रतीति की होती परीक्षा।
बाहरी-सतही विपर्यय से
नहीं विश्वास मेरा कम हुआ है,)
राग मधुबन के लिए कुछ बढ़ गया है,
स्वप्न-सामंजस्य कोई कहीं
आकृतिवान होने के लिए संघर्षरत है,
शक्ति मधुबन की वहीं कण-कण निरत है,
आज ही इसकी ज़रूरत है

(कि गायन आस्था का बंद मत हो।
इसी से टूटी लयों से भी
बराबर गा रहा हूँ।)

प्राण-बुलबुल!
मौन मत हो,
द्रुत प्रकट हो,
साथ मेरा दो,
समय की लो चुनौती;
वह अभागा कौन जिसकी
गीत, प्रीति, प्रतीति से
क़िस्मत न लौटी!

## स्वाध्याय कक्ष में बसंत

शहर का, फिर बड़े,
तिसपर दफ़्तरी जीवन—
कि बंधन करामाती—
जो कि हर दिन
(छोड़कर इतवार को,
सौ शुक्र है अल्लामियाँ का,
आज को आराम वे फ़रमा गए थे)
सुबह को मुर्ग़ा बनाकर है उठाता,
एक ही रफ़्तार-ढर्रे पर घुमाता,
शाम को उल्लू बनाकर छोड़ देता,
कब मुझे अवकाश देता है
कि बौरे आम में छिपकर कुहकती
कोकिला से धड़कनें दिल की मिलाऊँ,
टार की काली सड़क पर दौड़ती
मोटर, बसों से, लारियों से,
मानवों को तुच्छ-बौना सिद्ध करती
दीर्घ-द्वार इमारतों से, दूर

पगडंडी पकड़कर निकल जाऊँ,
क्षितिज तक फैली दिशाएँ पिऊँ,
फागुन के सँदेसे की हवाएँ सुनूं,
पागल बनूं, बैठूं कुंज में,
वासंतिका का पल्लवी घूंघट उठाऊँ,
आँख डालूं आँख में,
फिर कुछ पुरानी याद ताज़ी करूँ,
उसके साथ नाचूं,
कुछ पुराने, कुछ नये भी गीत गाऊँ,
हाथ में ले हाथ बैठूं
और कुछ निःशब्द भावों की
भँवर में डूब जाऊँ—

किंतु फागुन के सँदेसे की हवाएँ
हैं नहीं इतनी अबल, असहाय
शहर - पनाह से,
ऊँचे मकानों से, दुकानों से
ठिठककर बैठ जाएँ,
या कि टकरा लौट जाएँ।
मंत्रियों की गद्दियों से,
फ़ाइलों की गड्डियों से,
दफ़्तरों से, अफ़सरों से,
वे न दबतीं;
पासपोर्ट न चाहिए उनको, न वीज़ा।

वे नहीं अभिसारिकाएं
जो कि बिजली की
चकाचौंधी चमक से
हिचकिचाएँ।
वे चलीं आतीं अदेखी,
बिना नील निचोल पहने,
सनसनाती,
और जीवन जिस जगह पर
सहज, स्वाभाविक, अनारोपित,
वहाँ पर गुनगुनातीं,
रहस प्रतिध्वनियाँ जगातीं,
गुदगुदातीं,
समय-मीठे दर्द की लहरें उठातीं;
(और क्या ये पंक्तियाँ हैं ?)
क्लार्कों के व्यस्त दरबों,
उल्लुओं के रात के अड्डों,
क्लबों, सिनेमाघरों से,
रूप-वाक्पटुता-प्रदर्शक पार्टियों से,
होटलों से, रेस्टराओं से,
मगर, उनको घृणा है।

आज छुट्टी;
आज मुख पर क्लार्की चेहरा लगाकर
असलियत अपनी छिपानी नहीं मुझको,

आज फिर-फिर फ़ोन की आवाज़
अत्याचार मेरे कान पर कर नहीं सकती,
आज टंकनकारियों के,
आशुलिपिकों के पसीने से बसी
आलसी फ़ाइल, नोटिसें, पुरजियाँ,
मेरा जी नहीं मिचला सकेंगी।
आज मेरी आँख अपनी, कान अपना, नाक अपनी।
इसलिए ही आज
फागुन के सँदेसे की हवाओं की
मुझे आहट मिली है
पत्र-पुस्तक-चित्र-प्रतिमा-फूलदान-
सजीव इस कवि-कक्ष में
जिसकी खुली है एक खिड़की
लान से उठती हुई हरियालियों पर,
फूल-चिड़ियों को झुलाती डालियों पर,
और जिसका एक वातायन
गगन से उतरती नव नीलिमाओं पर
खुला है।
बाहरी दीवार का लेकर सहारा
लोम-लतिका
भेद खिड़की पर मढ़ी जाली अचानक
आज भीतर आ गई है
कुछ सहमती, सकपकाती भी कि जैसे
गाँव की छोरी अकेली खड़ी ड्राइँगरूम में हो।

एक नर-छिपकली
मादा-छिपकली के लिए आतुर
प्रि···प्रि···करती
आलमारी-आलमारी फिर रही है।
एक चिड़िया के लिए
दो चिड़े लड़ते, चुहचुहाते, फुरफुराते
आ गए हैं—
उड़ गए हैं—
आ गए फिर—
उड़ गए फिर—
एक जोड़ा नया आता ! ···
किस क़दर बे-अख़्तियारी, बेक़रारी ! —
'नटखटो, यह चित्र तुलसीदास का है,
मूर्ति रमन महर्षि की है।'
किंतु इनके ही परों के साथ आई
फूल झरते नीबुओं की गंध को
कैसे उड़ा दूँ ?—
हाथ-कंगन, वक्ष, वेणी, सेज के
शत पुष्प कैसे नीबुओं में बस गए हैं ! —
दृष्टि सहसा
वात्स्यायन-कामसूत्र, कुमार-संभव
की पुरानी जिल्द के ऊपर गई है,
कीट-चित्रित गीत श्री जयदेव का वह,
वहाँ विद्यापति-पदावलि,

वह बिहारी-सतसई है,
और यह 'सतरंगिनी';
ये गीत मेरे ही लिखे क्या !
जिए क्षण को
जिया जा सकता नहीं फिर—
याद में भी—
क्योंकि वह परिपूर्णता में थम गया है।
और मीठा दर्द भी
सुधि में घुलाते
तिक्त और असह्य होता।

और यह भी कम नहीं वरदान
ऐसे दिवस
मेरे लिए कम हैं;
और युग से, देस-दुनिया
और अपने से शिकायत
एक भ्रम है;
क्योंकि जो अवकाश का क्षण
सरस करता
नित्य-नीरस-मर्त्य श्रम है,
किंतु हर अवकाश-पल को
पूर्ण जीना,
अमर करना क्या, सुगम है ?—

## पुस्तक-पलायनी

"इस विशाल पुस्तकालय में
कमरा-दर-कमरा,
आलमारी-दर-आलमारी,
खाना-दर-खाना—
यह सब धर्म हैं!"

बाप रे, बाप!
पढ़ने योग्य होकर
जब इतना पढ़ूँगा,
समझूँगा,
पचाऊँगा,
तब धर्मविद् कहलाऊँगा,
(धर्मात्मा फिर भी नहीं)
और इतना कहलाने के लिए,
अहं को तुष्ट करने, बहलाने के लिए,
उम्र की उम्र ही न गवाऊँगा?—
जीवन को

मेज़-कुर्सी-किताब-चश्मों में
सीमित किए हुए।
बाक़ी सब दुनिया को
पीठ-सी दिए हुए।

धन्य हैं कबीर–
स्वर्ग में बैठे हुए दूध-बताशा खाएँ–
जो हमें बता गए
पंडित नहीं होता है
पोथियों के सागर में
जो लेता गोता है;
ढाई अक्षर प्रेम का जो पढ़ता है
पंडित वही होता है।

किताबों की गंध से
आलमारियों की गर्दखाई क़तार से,
कमरे की घुटन से, अंधकार से
जान बची;
निकल गया खुले हुए बाग़ में, बाज़ार में,
प्रेम की मनुहार में।

एकाएक साधो ने ललकारा,
"प्रेम न बाड़ी ऊपजै,
प्रेम न हाट बिकाय,
राजा-परजा जेहि रुचै

सीस देय लेई जाय।"
सुनकर सहम गया।
वाह रे कबीर–
कठिन काम सरल बता
गले से लगा गए।
मुझसे तो कभी नहीं
सीस दिया जाएगा,
हिया धकधकाएगा।

प्रेम के कराल-क्रूर,
चार्इं ढाई अक्षरों से
तीन देव रक्षा करें।
पुस्तकालय में ही घुसूँगा,
आलमारियों में ही भटकूँगा,
पुस्तकों के कूप में ही
मंडूक-सा डूबक लगाऊँगा,
ज्ञान टरटराऊँगा,
भले ही कबीर के शब्दों में
मूरख कहलाऊँगा।

## शब्दों से बचे

···और मैं ऐसी मनस्थिति से
नहीं संतुष्ट,
जो कुछ उठे, उमड़े, परेशान करे,
उसे मैं शब्द-छंदोबद्ध करके
बैठ जाऊँ;
और जीवन बीत जाए
गीत अपने गुनगुनाते,
या कि औरों को सुनाते।

वे बड़े सौभाग्यशाली,
सुदृढ़, सुस्थिर, ठोस हैं जो
भावनाओं में नहाते हुए
शब्दों की मुखर, चिर-प्रखर
धारा में फिसल बह नहीं जाते।
यही हैं जो विशद जीवन के तटों पर
कर्म में, आचार में, व्यवहार में,
रह मौन मूर्त कवित्व करते;
काव्य खाते, काव्य पीते,

काव्य जीते, काव्य से जग को जिलाते।

नाम कुछ,
कुछ पंक्तियाँ,
कुछ प्रेरणाएँ,
छोड़ कवि जाएँ यहाँ पर,
ये अनामी
रूप, रुचि, रस, राग,
पीड़ा प्रीति की,
कड़ियाँ करुण संवेदना की,
आह, कितनी,
इस धरा से जोड़ जाते !

## अजब और अजनबी*

उस दिन
जब मैं ऐसी धारा में नहा रहा था
जिसकी छीटों से भी तुम
काँप उठते हो,

---

*यह कविता निम्नलिखित व्याख्या के साथ १९६१ में आकाशवाणी-केन्द्र, नई दिल्ली, से प्रसारित की गई थी।

"यह कविता सृजन के एक पक्ष को लेकर लिखी गई है। कवि से प्रायः सदा से यह माँग की गई है कि वह साधारण के धरातल पर उतरे। पर देखा यह गया है कि जब वह साधारण के धरातल पर उतरा है तब उसे कवि नहीं समझा गया है—या वह कवि नहीं रह गया है।

मैंने इस कविता में उस कारण की खोज की है जिससे यह संभव होता है। साधारण वास्तव में साधारण नहीं होता। वह असाधारण होता है। इसको कवि जानता है और इसी को संबोधित करता है। सच पूछा जाय तो साधारण इतना ऊपरी, सतही, स्पष्ट है कि उसपर चिंतन-मनन की आवश्यकता नहीं; वह स्वतः सिद्ध है, और कविता केवल वर्णन नहीं—वर्णन भी हो तो किसी ऐसे पक्ष का, जो साधारणतया अनदेखा रह जाता है। कविता असाधारण की शोध है। इस कविता के द्वारा साधारण को यह बोध कराने का प्रयत्न किया गया है कि वास्तव में वह असाधारण है,

ऐसे भावों में बह रहा था
जिनकी गहराई में उतरते
तुम सिहरते हो, डरते हो;
और जल-क्रीड़ा करते,
या स्वर्ण-तरी में तिरते,
जब मैं ऐसे दर्द गा रहा था
जो तुम्हारे दिलों में नहीं उठते,
ऐसे शब्दों में, स्वरों में,
जिनके अर्थ-भेद, रस-भेद
तुम्हारे पल्ले नहीं पड़ते,
तब तुमने नदी के कूलों पर
मेला लगा दिया,
बीन-बँधे मृग-से
मंत्र-मुग्ध खड़े रहे,
देखते-सुनते,
टाले भी नहीं टले।

और आज
जब मैं तुम्हारी बस्तियों में आया हूँ,

---

पर अपनी असाधारणता से चौंकता है। कवि का काम है कि वह उसे अपने रूप से अवगत कराए। कविता तभी कृतकार्य होती है जब न कवि जनता को अजनबी लगे और न जनता कवि को। यानी, कविता का कार्य है, कवि और जनता के अजनबीपन को, असाधारणता को मिटाना और उन्हें एक-दूसरे के निकट लाना।"

तुम्हारी गलियों में घूम रहा हूँ,
तुम्हारे घर-दर पर फेरी लगाता हूँ,
तुम्हारे झगड़ों-टंटों की गाता हूँ,
तुम्हारी ही बोली में,
लय में, लहजे में,
तब तुम मुझसे
कतराकर निकल जाते हो
और मेरी बात
मेरे ही गले में
गूँजकर गुम हो जाती है।

तुम घरेलू से नहीं,
अजनबी से आकर्षित होते हो;
घर को नहीं,
अजायबघर को आँखें फाड़कर देखते हो;
क्योंकि तुम खुद अजब हो,
अजनबी हो,
अपने से अपने को,
देख नहीं पाते हो,
देखते घबराते हो, या फिर लजाते हो।

## बुद्बुद

मैं चाँद से प्यार चाहूँ,
सूरज से पुरस्कार चाहूँ,
आसमान से मान,
तारों से वाह-वाह चाहूँ,
ऐसा मैंने
क्या जिया,
क्या किया,
क्या दिया,
क्या गाया !

निस्तल,
निस्सीम,
भीमातिभीम सिंधु,—
अपने आनन्द में,
कि अपने अवसाद में,
कि अपने किसी द्वन्द्व में,
कि अपने किसी की याद में,
कि अपनी आग की प्यास में,

कि अकारण ही,—
सहसा हिला,
उच्छ्वसित हुआ,
हलराया,
लहराया,
और एक बुद्बुद-सा
मैं उभर आया,
खोखला ही था,
उतराया।

तरंगें उठीं, उठा,
तरंगें गिरीं, गिरा,
किरनें पड़ीं, चमका;
कौन लाट खड़ी की,
गगन मुझमें झलका;
गलना था पल का;
और मैंने जो गाया,
स्वधर्म ही निभाया,
बुद्बुद था बुद्बुदाया !

## कलश और नीव का पत्थर*

अभी कल ही
पंचमहले पर
कलश था,
और
चौमहले,

---

*यह कविता निम्नलिखित व्याख्या के साथ सन् १९६१ में आकाशवाणी केन्द्र, नई दिल्ली, से प्रसारित की गई थी।

"कलश किसी भवन के सबसे ऊँचे भाग का प्रतीक है—हालाँकि आधुनिक भवन निर्माण कला में कलश नहीं रक्खा जाता, पर प्रतीक अपना अर्थ त्यागने को तैयार नहीं। नीव का पत्थर इमारत का सबसे निचला भाग हुआ।

जीवन के किसी भी क्षेत्र की उपलब्धि को इमारत का रूपक दिया जा सकता है।

हर क्षेत्र में कुछ चीज़ें नीव के पत्थर की जगह पर होती हैं, उन्हीं के ऊपर सारी इमारत का दारोमदार होता है, पर वे दिखाई नहीं देती। कलश ऊपर भले ही दिखाई दे, भवन का शृंगार हो, पर उस पर निर्भर नहीं रहा जा सकता; वही सारी इमारत पर निर्भर रहता है।

पर गतिमान जीवन की कोई उपलब्धि स्थिर नहीं। जो कलश बनकर

तिमहले,
दुमहले से
खिसकता अब
हो गया हूँ नीव का पत्थर !

काल ने धोखा दिया,
या फिर दिशा ने,
या कि दोनों में विपर्यय;
एक ने ऊपर चढ़ाया,
दूसरे ने खींच
नीचे को गिराया,
अवस्था तो बढ़ी
लेकिन अवस्थित हूँ
कहाँ घटकर !

आज के साथी सभी मेरे
कलश थे,

---

ऊपर-ऊपर रहता है उसे समय पाकर बल संचित करना, और, और ऊपर के कलशों को सँभालना पड़ता है। यह विचित्र है कि अधिक बल पाकर, अधिक महत्त्वपूर्ण बनकर, उसे नीचे जाना पड़ता है। और, दिखावटी और निर्बल ऊपर आते-जाते हैं।

किसी स्थिति पर नीव की ओर जानेवाले को असंतोष भी हो सकता है—जो हलके दिखावटी हैं, वे तो ऊपर हैं; जो भारी और ठोस हैं, वे नीचे ! इस कविता में इस असंतोष को समझा और दूर किया गया है।"

आज के सब कलश
कल साथी बनेंगे।
हम इमारत,
जो कि ऊपर से
उठा करती बराबर
और नीचे को
धँसी जाती निरंतर

## दैत्य की देन ( ८

सरलता से कुछ नहीं मुझको मिला है,
जबकि चाहा है
कि पानी एक चुल्लू पिऊँ,
मुझको खोदना कूआँ पड़ा है।
एक कलिका को उँगलियों में
पकड़ने को
मुझे बन एक पूरा कंटकों का
काटकर के पार करना पड़ा है
औ' मधुर मधु के स्वल्प कण का
स्वाद लेने के लिए मैं
तर-बतर आँसू, पसीने, खून से
हो गया हूँ;
उपलब्धियाँ जो कीं,
चुकाया मूल्य जो उनका,
नहीं अनुपात उनमें कुछ;
मगर सौभाग्य इसमें भी बड़ा है।
जहाँ मुझमें स्वप्नदर्शी देवता था

वहीं एक अदम्य कर्मठ दैत्य भी था
जो कि उसके स्वप्न को
साकार करने के लिए
तन-प्राण की बाज़ी लगाता रहा,
चाहे प्राप्ति खंडित रेख हो,
या शून्य ही हो।
और मैं यह कभी दावा नहीं करता
सर्वदा शुभ, शुभ्र, निर्मल
दृष्टि में रखता रहा हूँ—
देवता भी साल में छः माह सोते—
अशुभ, कलुषित, पतित, कुत्सित की
तरफ़ कम नहीं आकर्षित हुआ हूँ—
प्राप्ति में सम-क्लिष्ट—
किंतु मेरे दैत्य की
अविराम श्रम की साधना ने,
लक्ष्य कुछ हो, कहीं पर,
हर पंथ मेरा
तीर्थ-यात्रा-सा किया है—
रक्त-रंजित, स्वेद-सिंचित,
अश्रु-धारा-धौत।
मंज़िल जानती है,
न तो नीचे ग्लानि से मेरे नयन हैं,
न ही फूला हर्ष से मेरा हिया है।

## भीतरी काँटा*

……और जब कांतार-कंटक-जाल में
तुमने मुझे
कोमल कमल-से चरण देकर
धर दिया तो

---

*यह कविता निम्नलिखित व्याख्या के साथ १९६१ में आकाशवाणी-केन्द्र, नई दिल्ली, से प्रसारित की गई थी।

"आज आपको अपनी एक नई कविता सुना रहा हूँ। 'नई' को आप किसी रूढ़ अर्थ में न लें। यह मुक्त छंद में है। इसमें केवल अर्थ की लय नहीं; ध्वनि की लय भी है। काव्य की अभिव्यक्ति में अर्थ को, कम से कम इस कविता में, मैंने इतनी स्वतन्त्रता नहीं दी कि वह ध्वनि से विद्रोह कर उठे। यह भी कहना सत्य से दूर न होगा कि इस कविता ने ध्वनि की लय में बँधे रहने में ही अपने अर्थ की सम्यक अभिव्यक्ति समझी है। बन्धन सब जगह बाधा ही नहीं बनता।

अब कविता के विषय पर आऊँ।

संसार में जो संघर्ष मनुष्य को करना पड़ता है उसे दो प्रकार का मान सकते हैं।

एक संघर्ष बाहरी और एक भीतरी; दोनों प्रकार के संघर्षों को कविता का विषय बनाया गया है।

मैं समझने में न चूका,
साधना को यह चुनौती है
कि तुझमें शक्ति हो तो
मृदुल तलवों को तवा कर,
और शूलों को कुचलकर चल।

और जो मैं पंथ पीछे छोड़ आया
वह बताए—
मैं कहूँ क्यों ?—
दबे, टूटे, मुड़े भू में धँसे
शूलों की कहानी,
और वह पग-चाप
जिसकी छाप दृढ़
मुश्किल मिटानी;
किंतु कब समझा
कि मेरी साधना के

---

प्रस्तुत कविता में भीतरी संघर्ष की ओर संकेत किया गया है। इसे समझाने के लिए किसी गम्भीर तर्क की आवश्यकता नहीं कि बाहरी संघर्ष में जिस प्रकार के बल की आवश्यकता होती है वह भीतरी संघर्ष के लिए अपेक्षित बल से भिन्न होता है।

शब्द के संसार की यह असमर्थता है कि भीतरी और सूक्ष्म को भी वह कोई बाहरी रूप देकर व्यक्त करता है।

इस कविता का शीर्षक है 'भीतरी काँटा' जो भीतरी संघर्ष का प्रतीक है। कविता सुनिए।"

पाँव के नीचे
बिछाया जा रहा है
और निर्दय और दर्दिल छल !

भीतरी काँटे उगे हैं
और भीतर चुभ रहे हैं
और भीतर ही पड़ेगा दर्द सहना;
दूसरों से व्यर्थ कहना;
बाहरी ही नहीं,
जीवन माँगता है
भीतरी भी बल !

## दर्द और मैं

दर्द उठा
तो उठता ही चला गया,
दर्द तड़फड़ाया,
दर्द बोला, चीखा, चिल्लाया,
उसने घर को ही सिर पर उठा लिया,
बाहरवालों को बुला लिया,
सबने दर्द को पूछा,
दर्द को सहलाया,
मैं पीछे पड़ गया।

दर्द आया,
तो मैंने उसे दिल में बिठलाया,
दुलराया, पुचकारा, समझाया,
रोने-धोने में क्या धरा है,
रोने-धोने से संसार भरा है,
आओ, मिलकर गाएँ,
सूने घर को गुंजाएँ,
सूनी घड़ियों को बहलाएँ

सूने हृदयों को सुरसुराएँ !—
किस वेद में लिखा है,
गंभीरता ही जीवन है ?—
गमग़ीनता ही ज़ीनत है ?—
मैंने राग छेड़ा,
दर्द ने सुर मिलाया,
दर्द मेरा संगी बन गया।

दर्द ने आते ही कहा,
"मैं हूँ लादवा !"
मैंने कहा, "तब, क्या होगा चिल्लाकर ?"
वह बोला, "क्या होगा भी गाकर ?"
मैंने दर्द को सहा, दबाया,
दर्द मेरा दास हो गया !

## अनजिए विश्वास

यदि मुझे विश्वास होता,
तीन बहनें नियति की
चिर वृद्ध, सन-से बालवाली,
श्वेतवर्णी, रेख-चिह्नित भालवाली,
गालवाली, पोपले, निर्दन्त मुख की,
काल अँधियारी गुफा में बैठ
मानव-भाग्य से हैं खेल करती,
खलखलातीं—
एक पूनी को उठाती
और झुर्री से भरी उँगली-अँगूठे से
अनूठा, मसृण, अंकुर-सूत्र स्वल्प निकालती,
फिर दूसरी बटती उसे आगे बढ़ाती,
खींचती—
तब तीसरी कैंची उठाकर के सकौतुक
सहज, सहसा काट देती;
आयु का वह तार, बे-आधार,
उड़ता वायु में;

सीमारहित आकाश में
सद्यः बुझे दीपक धुएँ-सा, क्षीण,
शून्य-विलीन होता;
और इस पर
हास तीनों का गुफा को
गुंजरित-प्रतिध्वनित करता;
फिर वही क्रम,
फिर वही क्रम,
फिर वही क्रम,
अथम चलता;
तो—
चेतना-वय प्राप्त कर मैं
समय के विस्तार में साँसें न गिन
प्रत्येक क्षण को जी
उसे जीवन-घनत्व प्रदान करता।
तब किसी को
देखता मैं नहीं, पीता,
और छूता तो उसी में
गल-पिघलकर लीन होता।
पंथ में आए हुए सम-भाग्य सबको
सतत कर स्वीकार, अपने में समोता।
क्षण-मिलन-उल्लास
युग का हर्ष और विमर्ष धोता।
खींच रस निज शक्ति भर अंतर्धरा से,

सही, सीमित परिधि में ही,
वहिर्जग में ज्योति जीता,
और जब निर्वाण पाता
तब नियति की भगिनियों के
हास पर मैं अट्टहास लगा
न क्या उनको लजाता ?

× × ×

यदि मुझे विश्वास होता
मैं उसी निर्मल कमल का तंतु हूँ जो
शेषशायी की अतल, निःसीम नाभी से
निकलकर, बाँधकर
दिक्काल को अपनी परिधि में
कर अनंत परिक्रमा उनकी
उसी निःसीम, निस्तल नाभि में
सानंद-सहज प्रवेश करता,
तो—
मरण-जीवन का,
प्रलय का, सृष्टि का,
कुछ दूसरा ही सार होता;
तो सतत पहचान अपने
बंधु-बांधव-तंतुओं को
क्या न उनसे
सहज एकाकार होता;
क्या न उनके साथ

चिर-उल्लास-उच्छल
घूमता, फिरता, फिराता ?
अगर जलता,
आरती बनता उन्हीं की;
अगर बुझता,
अगरु धूम अशेष बनता।
धनी हो जाती निधनता।

× × ×

किंतु यह विश्वास होता
या कि वह विश्वास होता,
जिया जीवन उस तरह का
इस तरह से जिए जीवन के
बहुत कुछ पास होता !

× × ×

आह, रोना और पछताना इसी का
एक भी विश्वास को
पूरी तरह मैं जी न पाया,
कभी उसमें भ्रमा,
इसमें कभी भ्रमता रहा
या कि गया भ्रमाया।
जिया जिसको जान भी उसको न पाया।

## दो पटरियाँ

···और जो होना यही है,
हो;
क्योंकि सारा भूत ही
इसकी गवाही है
कि जो होना हुआ है
वही होकर के रहा है।
हुई की लंबी, पुरानी,
आदिहीन कथा-व्यथा है—
लिखी, सुधियों में सँजोई,
जान या अनजान भूली या भुलाई।

···जिसे होना चाहिए था,
जो नहीं हो सका,
वह भी दृगों में झूला,
दिमाग़ ख़राब करता रहा,
दिल को रहा मथता;
और ऐसा भी नहीं,
उसकी कहीं कोई निशानी नहीं;

छाया-देह धर भी
वह गया है छोड़कर पगचाप अपनी
जो गई है सही, रंगी, गढ़ी, रोई और गाई।

···और आज़ादी नहीं है—
गो कि होनी चाहिए थी—
दो पटरियों में किसी को छोड़ दें हम—
एक पटरी इन्द्रधनुषी,
एक इस्पाती,
करामाती—
कि जिनपर चक्र गंत्री के
निरंतर भ्रम रहे,
आश्वस्त-शंकित,
नापते अपनी गोलाई !

## बुद्ध के साथ एक शाम

रक्तरंजित साँझ के
आकाश का आधार लेकर
एक पत्रविहीन तरु
कंकाल-सा आगे खड़ा है।
टुनगुनी पर नीड़ शायद चील का,
ख़ासा बड़ा है।

एक मोटी डाल पर है
एक भारी चील बैठी
एक छोटी चिड़ी पंजों से दबाए
जो कि रह-रह पंख
घबराहट-भरी असमर्थता से
फड़फड़ाती,
छुट न पाती,
चील कटिया-सी नुकीली चोंच से
है बार-बार प्रहार करती,
नोचकर पर डाल से नीचे गिराती,

मांस खाती,
मोड़ गर्दन
इस तरफ़ को, उस तरफ़ को
देख लेती;
चार कायर काग चारों ओर
मँडलाते हुए हैं शोर करते।
दूर पर कुछ मैं खड़ा हूँ।

किंतु लगता डाल पर मैं ही पड़ा हूँ;
एक भीषण गरुड़ पक्षी
मांस मेरे वक्ष का चुन-चुन
निगलता जा रहा है;
और कोई कुछ नहीं कर पा रहा है।

अर्थ इसका, मर्म इसका
जब न कुछ भी समझ पड़ता
बुद्ध को ला खड़ा करता—
दृश्य ऐसा देखते होते अगर वे
सोचते क्या,
कल्पना करते ? न करते ?
चील-चिड़िया के लिए,
मेरे लिए भी किस तरह के
भाव उनके हिये उठते ?

शुद्ध,

सुस्थिरप्रज्ञ, बुद्ध प्रबुद्ध ने
दिन-भर वुभुक्षित चील को
संवेदना दी,
तृप्ति पर संतोष
उनके नेत्र से झलका,
उसी के साथ
चिड़िया के लिए संवेदना के
अश्रु ढलके,
आ खड़े मेरे बग़ल में हुए चल के,
प्राण-तन-मन हुए हल्के,
हाथ कंधे पर धरा,
ले गए तरु के तले,
जैसे बे-चले ही पाँव मेरे चले !
नीचे तर्जनी की,
बहुत-से छोटे-बड़े, रंगीन,
कोमल-करुण-बिखरे-से
परों से,
धरणि की धड़कन रुकी-सी हृत्पटी पर,
प्रकृति की अनपढ़ी लिपि में,
एक कविता-सी लिखी थी !

## घर

यह लंबी-चौड़ी धरा,
बड़ा-सा चंदा-सूरज,
उनसे बड़े सितारे अनगिन,
फेन-बबूलों-से,
सीमा से हीन गगन-सागर में तिरते !
माप और विस्तार सचेतन
तन ले साढ़े तीन हाथ का
मैं जी सकता नहीं एक क्षण !
खड़े खुले में
बहुत बार मेरे मन में ऐसा आया है,
जी घबराया-भरमाया है,
तन मेरा सहसा काँपा है, सिहर उठा है।
आ घर में, कमरे के अंदर
बैठ गया हूँ;
छत ने जैसे हाथ शीश पर
धरकर मुझको समझाया है,
शांत किया है; )

घर की दीवारों ने मुझको
आलिंगन में बाँध लिया है,
प्यार किया है;
पावों के नीचे की धरती ने
तलवों को सहलाया है;
खिड़की-दरवाज़ों की चौखट ने
मुस्काने भर अंबर के पाँव
काठ में डाल दिए हैं;
दिक्-व्यापी उजियाली
भीतर आ नत-लज्जित हो
चरणों से लिपट गई है;
एक हवा का झोंका आया है,
लगता है, सारा सीमा-हीन,
यहाँ जो कुछ सीमा के घर के अन्दर होता देखा,
उसपर सहसा, ईर्ष्या के वश,
हहर उठा है।

## नया वर्ष

( तेजी को )

···और ज़रा-सा ग़ौर करें तो
साल पुराना
ग्यारह बजकर साठ मिनट पर
नहीं काल के गाल समाया ।
आधी रात रोज़
तारीखें नई
पुरानी को खाती
अनवरत रही हैं ।
इसी तरह से
घंटे, मिनट, सेकेण्ड बराबर नए
पुराने को खा-खाकर
भूत-भविष्यत की सीमा रेखा के ऊपर
हमें, तुम्हें, सबको,
धरती को, अम्बर को
संतुलित रख रहे—
क्षण पर,

क्षणभंगुर के ऊपर !

लेकिन इन अमूर्त बातों में क्या रक्खा है !
बच्चों ने घर आज सजाया
रंग-बिरंगी कागज़ की
ज़ंजीरों से, बेलों से,
चमचम क़ंदीलों से।
गए वर्ष को गए भूल वे,
नए वर्ष का स्वागत करते,
छोड़ पटाखे,
ले फुलझड़ियाँ,
प्रतिध्वनित होतीं हुलास की
नव रँगरलियाँ।
कब मैंने यह कहा
हर्ष की रसमय गलियाँ
नापा करतीं
कैलेंडर की तारीख़ें, घड़ियों की सुइयाँ !

## पानी–मरा मोती :
## आग–मरा आदमी

*आदमी*—जा चुका है,
मर चुका है,
मोतियों का वह सुभग पानी
कि जिसकी मरजियों से सुन कहानी,
उल्लसित-मन,
ऊर्ज्वसित-भुज,
सिंधु की विक्षुब्ध लहरें चीर
जल गंभीर में
सर-सर उतरता निडर
पहुँचा था अतल तक;
सीपियों को फाड़,
मुक्ता-परस-पुलकित,
भाग्य-धन को मुट्ठियों में बाँध,
पूरित-साध,
ऊपर को उठा था;
औ' हथेली पर उजाला पा

चमत्कृत-दृग हुआ था।
दैत्य-सी दुःसाहसी होती जवानी !
आज इनको
उँगलियों में फेर फिर-फिर
डूब जाता हूँ
विचारों की अगम गहराइयों में,
और उतरा
और अपने-आप पर ही मुसकराकर
पूछता हूँ,
क्या यही वे थे
कि जिनके लिए
मदिरा-सी पिए
बाड़व-विलोड़ित, क्षुधित पारावार में मैं धँस गया था।
कौन-सा शैतान
मेरे प्राण में,
मेरी शिराओं-धमनियों में बस गया था !

× × ×

*मोती*—मंद से हो
मंदतर-तम
बंद-सी वे धड़कनें अब हो गई हैं
आगवाली, रागवाली,
गीतवाली, मंत्रवाली,
मुग्ध सुनने को जिन्हें
छाती बिंधा डाली कभी थी,

और हो चिर-मुक्त
बंधन-माल अंगीकार की थी;
साँस की भी गंध-गति ग़ायब हुई-सी;
क्या भुजाएँ थीं यही
दृढ़-निश्चयी, विजयी जिन्होंने
युग-युगांत नितांत शिथिल जड़त्व को
था छुआ, छेड़ा, गुदगुदाया—
आः जीवन के प्रथम सुस्पर्श-
हर्षोत्कर्ष को कैसे बताया जाय—
क्या थीं मुट्ठियाँ ये वही
जिनकी जकड़ में आ
मुक्ति ने था पूर्व का प्रारब्ध कोसा !
फटी सीपी थी नहीं
कारा कटी थी,
निशा तिमिरावृत छटी थी
और अंजलिपुटी का
पहला सुहाता मनुज-काया ताप
भाया था, समाया था नसों में, नाड़ियों में।
खुली मुट्ठी थी
कि दृग में विश्व प्रतिबिंबित हुआ था;
और अब वह लुप्त सहसा;
मुट्ठियाँ ढीली, उँगलियाँ शुष्क, ठंडी-सी,
विनष्टस्फूर्ति, मुर्दा।

क्या यही वे थीं कि जिनके लिए
अन्तर्द्वन्द्व, हलचल बाहरी सारी सहारी !
देख ली दुनिया तुम्हारी !

## तीसरा हाथ

एक दिन
कातर हृदय से,
करुण स्वर से,
और उससे भी अधिक
डब-डब दृगों से,
था कहा मैंने
कि मेरा हाथ पकड़ो
क्योंकि जीवन पंथ के अब कष्ट
एकाकी नहीं जाते सहे।

और तुम भी तो किसी से
यही कहना चाहती थीं;
पंथ एकाकी
तुम्हें भी था अखरता;
एक साथी हाथ
तुमको भी किसी का
चाहिए था,

पर न मेरी तरह तुमने
वचन कातर कहे।

ख़ैर, जीवन के
उतार-चढ़ाव हमने
पार कर डाले बहुत-से;
अंधकार, प्रकाश
आँधी, बाढ़, वर्षा
साथ झेली;
काल के बीहड़ सफ़र में
एक दूजे को
सहारा और ढारस रहे।

लेकिन,
शिथिल चरणे,
अब हमें संकोच क्यों हो
मानने में,
अब शिखर ऐसा
कि हम-तुम
एक दूजे को नहीं पर्याप्त,
कोई तीसरा ही
हाथ मेरा औ' तुम्हारा गहे।

## दो चित्र

—यह कि तुम जिस ओर जाओ
चलूँ मैं भी,
यह कि तुम जो राह थामो
रहूँ थामे हुए मैं भी,
यह कि क़दमों से तुम्हारे
क़दम अपना मैं मिलाए रहूँ ऽ···
यह कि तुम खींचो जिधर को
खिचूँ,
जिससे तुम मुझे चाहो बचाना
बचूँ,
यानी कुछ न देखूँ, कुछ न सोचूँ,
कुछ न अपने से करूँ—
मुझसे न होगा;
छूटने को, बिलग जाने,
ठोकरें खाने, लुढ़कने, ग़रज़,
अपने आप करने के लिए कुछ
विकल, चंचल आज मेरी चाह।

× × ×

—यह कि अपना लक्ष्य निश्चित मैं न करता,
यह कि अपनी राह मैं चुनता नहीं हूँ,
यह कि अपनी चाल मैंने नहीं साधी,
यह कि खाई-खंदकों को
आँख मेरी देखने से चूक जाती,
यह कि मैं ख़तरा उठाने से
हिचकता-झिझकता हूँ,
यह कि मैं दायित्व अपना
ओड़ते घबरा रहा हूँ—
कुछ नहीं ऐसा।
शुरू में भी कहीं पर चेतना थी,
भूल कोई बड़ी होगी,
तुम सँभाल तुरन्त लोगे;
अंत में भी आश्वासन चाहता;
अनगही मेरी नहीं है बाँह।

## प्रार्थना

…ग्रार मैं
ऐसा कहाँ का हूँ कि मुझको
नमित, नत, लुंठित बनाने को
तुम्हें ग्रायास करना पड़े,
बनने को, मुझे अंतर्निवेदन ?
पा तुम्हारे
रोम का संकेत
श्वेत किरीटधारी शिखर
होते धराशायी गिर-बिखर कर;
फैल जाती पिघल करके
लौह की चट्टान जैसे मोम की हो।
कौन गिनती
ताड़,
कीर्तिस्तम्भ,
दंभी लाट की,
मीनार की है।
ग्रौर मैं तो

रीढ़-रिक्त लता लचीली, स्नायु-ढीली, से
गया-बीता हुआ हूँ,
वायु के हर मोड़, झड़, झकझोर पर
जो काँपती, छूती अवनि को।

प्रार्थना करनी मुझे है,
औ' इसे स्वीकारना, संभव बनाना,
सरल उतना ही तुम्हें है;
रीढ़ मुझको दो,
जहाँ पर हो ज़रूरी
मैं खड़ा हो सकूँ तनकर,
लौह दृढ़ तन-प्राण-मन कर,
आन पर टूटूँ,
गगन की गर्जना को गान समझूँ,
किंतु अपने मान, गौरव, गर्व को भी
बस तुम्हारा ही सबल वरदान समझूँ।

## अनुरोध

सबल,
जब दिवसांतकाले
वेणु-वन से
घर मुझे लौटालना हो
तब गले में डालकर
प्रश्वास-पाश कठोर
मुझको खींचना मत।

मुक्त धरती
और मुक्ताकाश में
अभिमत विचरने,
स्वेच्छया बहते पवन में
श्वास लेने,
स्वर्णिमातप में नहाने,
नील-नीर तरंगिणी में
पैठने, तृष्णा बुझाने,
और तरु के
सघन-शीतल छाँहरे में

अर्द्ध-मीलित नेत्र बैठे
स्वप्न रचने के सुखों से
फेरना मुँह कठिन होगा।
सुखद लगता
दुःख, संकट, कष्ट भी गत।

वेणुधारी,
वेणु तुम ऐसा बजाना
विस्मरणकारी
कि गत-वनप्रांत-निर्गत
मैं चलूँ पीछे तुम्हारे
मुग्ध अवनत,
चेतना हृत।
ॐ तत् सत,
···तत् सत,
···सत···त !

## निवेदन

जग के कीचड़-काँदों से
लथपथ-मटमैली,
काल-कंटकित-झंखाड़ों में
अटकी-झटकी,
चिथ-चिरबत्ती,
जीवन के श्रम-ताप-स्वेद से
बुसी-किचैली,
चादर का अब मोह निवारो।

दलदल
जंगल,
पर्वत,
मरुथल
मारी-मारी फिरी
शिथिल-विथकित काया से
जीर्ण-शीर्ण यह बसन उतारो।

माँ,
तारक-सिकता कूलों में
अविरत बहती,
शुभ्र गगन-गंगा-धारा में
मल-दल नहला,
नव-निर्मल कर,
जलन-थकन हर,
मेरे तन पर
वत्सलता-करुणा-अनुरंजित
सतरंगा परिधान सँवारो।

## प्रत्यावर्तन

लौटती है लहर सागर को,
अगम,
गम्भीर क्षण है,
शांति रक्खो,
मौन धारो।

सतह पर अस्तित्व का उत्थान,
किरणावलि-समुज्ज्वल
मोतियों की
मुक्तकर बौछार,
कल-कल गान,
शत-शत लहरियों के संग,
उमगित अंग,
तट को प्रथम छूने के लिए
प्रतियोगिता-अभियान ! —
अब सब वह बिसारो।

अब लहर नतशीश,

तिमिराच्छन्न अन्तर,
सन्न अंग-अंग,
सर्वथा निःसंग, निर्धन,
हर तरह से हार,
अपना रिक्त हस्त पसार,
अपने मूक नयनों से
किनारा देख अन्तिम बार,
पारावार से
असहाय एकाकार ! —
भूलो लहर को,
प्रभु को पुकारो।

## उस संसार में

यह समस्या
नहीं पहली बार मेरी,
इस रहस्य-भरी डगर पर
कल्पना भटकी घनेरी।

प्रतिध्वनियाँ
भीति-भ्रम की, विकलता की,
विफलता की,
औ' न जाने और किसकी,
आ रही हैं—
एक झंझावात
काली रात में
जैसे कि बन झकझोरता हो।

एक तरु बस,
एक डाली बस,
कि केवल एक पत्ता
गिरा क्या मेरी बनेगी,

## पूर्ण सत्ता ?

एक बंसी की
प्रतिध्वनि भी कभी देती सुनाई
जो कि झंझावात को अवहेलती-सी,
सात सुर से खेलती-सी,
बढ़ी ही जाती निरंतर,
भेदती-सी दिग्दिगंतर।

बाँसुरी-सी,
एक उसकी रागिनी-सी,
एक स्वर-सी,
क्या गिरा मेरी उठेगी
अमृत वर्षी ?
या कि दोनों बात होगी
साथ ही,
जैसे कि इस संसार में
गाया किया,
तूफ़ान की झड़
भी सही !

## डूबनेवाली नावें

(नलिन विलोचन शर्मा की मृत्यु पर)

.....और यह तो बहुत पहले सुन चुका था
इस नदी में हर तरी का भाग्य है यह
कभी चलते हुए सहसा डूब जाना,
फेफड़े, पर, पाल के फूले-भरे थे,
डाँड के भुजदंड गहरे पैठकर
अनुकूल औ' प्रतिकूल धारों को
चुनौती दे रहे थे,
फार-सी पतवार पानी चीरती थी;
और लहरों के थपेड़े चाल पर थे ताल देते;
हर्ष या कि विमर्षमय अज्ञात आकर्षक बड़ा था,
अनसुना करके युगों का सत्य
जल-थल-नभ-बवंडर-बिजलियों से निडर खेला;
ज़िन्दगी क्या थी कि मेला।

और यह भी देखकर
यह नाव डूबी, और वह भी, और वो भी,

और उनके लिए करके हाय, आँसू भी बहाकर,
की न मैंने पाल ढीली,
औ' न मैंने डाँड छोड़ी;
ख़ासियत मेरी नहीं थी;
सभी बढ़ते चल रहे थे;
ज़िंदगी की इस नदी में कौन रुकता,
भले ही खेवे न खेवे ?
कौन पीछे लौटता, चाहे अगर भी,
साथ हो या हो अकेला,
लाद ली हो नाव या
रक्खा अलग हो सब झमेला ?

और क्या डूबी हुई नावें रुकी हैं ?
रुकी हैं तो किस प्रतीक्षा में रुकी हैं ?
यान पर निर्भर नहीं गति;
साहसी मल्लाह क्या सब
तैरते-बहते बराबर आ रहे हैं ?
क्या नदी यह दो तरह से पार होती—
यान पर कुछ दूर आओ,
तैरकर कुछ दूर जाओ ?
क्या कहीं पर बाज़ुओं का भी सहारा छूटता है ?
क्या दहाने पर पड़ा है द्वीप कोई
पा जिसे विश्राम करना—सुप्त चिर या जागरित चिर ?
या कि सागर बाँह फ़ैलाए खड़ा है,

सफ़र आगे भी बड़ा है ?
इन सवालों का जवाब नक़ाब में अपने
छिपाए क्या खड़ी जल-मग्न-बेला ?

## मरण काले

(निराला के मृत शरीर का चित्र देखने पर)

मरा
मैंने गरुड़ देखा,
गगन का अभिमान,
धराशायी, धूलि धूसर, म्लान !

मरा
मैंने सिंह देखा,
दिग्दिगंत दहाड़ जिसकी गूंजती थी,
एक झाड़ी में पड़ा चिर-मूक,
दाढ़ी-दाढ़-चिपका थूक।

मरा
मैंने सर्प देखा,
स्फूर्ति का प्रतिरूप लहरिल,
पड़ा भू पर बना सीधी और निश्चल रेख

मरे मानव-सा कभी मैं

दीन, हीन, मलीन, अस्तंगमितमहिमा,
कहीं, कुछ भी नहीं पाया देख।

क्या नहीं है मरण
जीवन पर अवार प्रहार ?—
कुछ नहीं प्रतिकार।

क्या नहीं है मरण
जीवन का महा अपमान ?—
सहन में ही त्राण।

क्या नहीं है मरण ऐसा शत्रु
जिसके साथ, कितना ही समर कर,
निबल निज को मान,
सबको, सदा,
करनी पड़ी उसकी शरण अंगीकार ?—

क्या इसी के लिए मैंने
नित्य गाए गीत,
अंतर में सँजोए प्रीति के अंगार,
दी दुर्नीति को डटकर चुनौती,
ग़लत जीती बाज़ियों से
मैं बराबर
हार ही करता गया स्वीकार,—
एक श्रद्धा के भरोसे
न्याय, करुणा, प्रेम—सबके लिए

निर्भर एक ही अज्ञात पर मैं रहा
सहता बुद्धि-व्यंग्य प्रहार ?

इस तरह रह
अगर जीवन का जिया कुछ अर्थ,
मरण में मैं मत लगूं असमर्थ !

मुद्रक : श्यामसुन्दर गर्ग, हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, क्वींस रोड, दिल्ली।